ॐ

वास्तुशास्त्रविमर्श

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्
(मानितविश्वविद्यालयः)
नवदेहली-110016

प्रथम पुष्प

वास्तुशास्त्रविमर्श

प्रधान सम्पादक
प्रो० वाचस्पति उपाध्याय
कुलपति

सम्पादक

प्रो० प्रेमकुमार शर्मा
अध्यक्ष
ज्योतिषविभाग
संकाय-वेदवेदाङ्ग

प्रो० देवीप्रसाद त्रिपाठी
संयोजक
वास्तुशास्त्र नवीकरण कार्यक्रम
विश्वविद्यालय अनुदान आयोग

ज्योतिष विभाग
श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ
(मानित विश्वविद्यालय)
नव देहली-११००१६

पुरोवाक्

मानव सभ्यता के साथ ही वास्तुशास्त्र का विकास भी प्रारम्भ हुआ। वास्तुशास्त्र उतना ही प्राचीन है जितनी मानव सभ्यता। मानव सभ्यता के आदि ग्रन्थ ऋग्वेद में वास्तु से सम्बन्धित वर्णन बहुत स्थलों पर दृष्टिगोचर होता है। वेदांग काल में यह शास्त्र पूर्ण व्यवस्थित हुआ। पुराणों एवं आगमों ने इस शास्त्र को सर्वाधिक पल्लवित किया। वेदांगों में ज्योतिष एवं कल्प से इस शास्त्र का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। आवासीय दृष्टि से इष्टानिष्ट का विवेचन करना तथा श्रौत-स्मार्त कर्मों के सम्पादन में गृह (आवास) की आवश्यकता का होना यह दर्शाता है कि वेदांगों के बिना इस शास्त्र का वैचारिक ज्ञान सम्भव नहीं है। वास्तुशास्त्र ज्योतिष की एक समृद्ध एवं विकसित शाखा है। इन दोनों में अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध है। शुल्व सूत्रों में प्रतिपादित यज्ञ वेदी परिकल्पना भारतीय वास्तुशास्त्र की आधारशिला है। इसे आचार्यों ने शास्त्रीय कलेवर एवं स्थपतियों ने भौतिक रूप प्रदान किया। वास्तुशास्त्र में कला एवं विज्ञान दोनों महत्त्वपूर्ण विधाओं का सम्मिश्रण दिखाई देता है। भारतीय स्थापत्य शास्त्रियों ने कला एवं विज्ञान को अध्यात्म से पृथक् नहीं रखा। कला का उद्भव मनोरञ्जन से नहीं अपितु धर्म और दर्शन से हुआ। कह सकते हैं कि जो कला अथवा विज्ञान अध्यात्म से शून्य एवं दर्शन से अनुप्राणित नहीं हैं वह शुष्क काष्ठ की भाँति दहन योग्य है। कला और विज्ञान दोनों आसुरी सम्पदायें राक्षस न बने इसलिए इसे देवत्व की भावना से सदा अनुप्राणित रखा गया जिससे यह शास्त्र जन कल्याण एवं रक्षण कर सके। भारतीय चिन्तनधारा ने सदा भौतिक एवं अध्यात्म को संतुलित रखने का प्रयत्न किया है; नहीं तो भौतिकवादी भस्मासुर कभी भी अपने जनक शिव के भक्षण के लिए उद्यत हो सकता है। जैसा कि वास्तु पुरुष के उद्भव की कथानक से प्रतीत होता है कि शिव नेत्र से निःसृत स्वेद बिन्दु से उद्भूत विशाल आकृतिवान् पुरुष समग्र सृष्टि को भक्षण करने के लिए उद्यत हुआ ही था कि सभी देवताओं ने उसे पकड़कर औंधे मुख लिटाकर इस सृष्टि प्रक्रिया को संतुलित किया।

भारतीय प्राचीन वास्तुशास्त्र के सुन्दर कला-सम्पन्न देवालयों, राजमहलों, दुर्गों, जलाशयों तथा जनावासीय भवनों की मनोहर रचनाओं को देखकर समग्र जनसमुदाय अतीव आनन्दित एवं

आश्चर्य चकित होता है। देवमन्दिर एवं राजमहलों को प्राचीन स्थापत्य में प्रासाद की संज्ञा दी गई है। देवालय बनाने के कारणों को लिखते हुए आचार्यों ने लिखा है कि–

सुरालयो विभूत्यर्थं भूषणार्थं पुरस्य तु।
नराणां भक्तिमुक्तत्यर्थं सत्यार्थं चैव सर्वदा।।

लोकानां धर्महेतुश्च क्रीडाहेतुश्च स्वर्भूवान्।
कीर्त्तिरायुर्यशोऽर्थं च राज्ञां कल्याणकारकः।।

पुरुषार्थ चतुष्टय सिद्धि के लिए एक सुव्यवस्थित गृह की आवश्यकता होती है। हमारे आचार्यों ने मानव जीवन को चार आश्रमों में विभाजित किया। इन चारों आश्रमों में से मात्र गृह की आवश्यकता गृहस्थ को ही है। गृह में रहने के कारण ही उसे गृहस्थ कहा गया है। भविष्य पुराण में कहा गया है कि "गृहस्थस्य क्रियाः सर्वाः न सिद्धयन्ति गृहं बिना"। इसी आश्रम को ही सभी का आश्रय आश्रम होने के कारण श्रेष्ठ कहा गया है। यथा–

वानप्रस्थो ब्रह्मचारी यतिश्चैव तथा द्विजाः।
गृहस्थस्य प्रसादेन जीवन्त्येते यथाविधिः।।

गृहस्थ एव यजति गृहस्थस्तप्यते तपः।
ददाति च गृहस्थश्च तस्माच्छ्रेयो गृहाश्रमी।।

गृहस्थ के लिए एक ऐसे घर की आवश्यकता होती है जहाँ वह सुख पूर्वक रह कर अपने अभ्यागतों का उचित सम्मान करते हुए श्रौत–स्मार्त कर्मों का सम्पादन ठीक ढंग से कर सके। भौतिक सुरक्षा एवं सुविधा की दृष्टि से बिना वास्तुशास्त्रीय विचार के भी अच्छे भवन बनाये जा सकते हैं, परन्तु ये आदिदैविक एवं अध्यात्मिक दृष्टि से भी अच्छे होंगे या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता है। मात्र भारतीय वास्तुशास्त्रीय चिन्तन ही सभी प्रकार से सुखी एवं समृद्ध भवन रूपी घर की एक उदात्त परिकल्पना प्रस्तुत करता है।

आज का वास्तुशास्त्री मात्र दिग् से वास्तुशास्त्र को दिग् भ्रमित करते हुए दिखाई देता है। जबकि यह शास्त्र "दिग् देश–काल" का विचार करते हुए निर्माण की व्यवस्था प्रदान करता है। इस शास्त्र का वर्णन चारों वेदों, वेदांगों, पुराणों, रामायण एवं महाभारत में पर्याप्त रूप से उपलब्ध होता है। आचार्यों ने आदिकाल से ही वास्तु, शिल्प एवं चित्र को स्थापत्य के अन्तर्गत माना है। समराङ्गण

सूत्रधार और शिल्परत्न ग्रन्थ में स्थापत्य के इन तीनों अंगों का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार के अनेकग्रन्थ संस्कृत साहित्य में मिलते हैं, जिनका उल्लेख परवर्ती काल के अनेक ग्रन्थों की टीका टिप्पणियों मे मिलता है। स्वतन्त्र रूप में भी कई ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं।

वास्तुशास्त्र के व्यावहारिक एवं जनोपयोगी होने के कारण विद्यापीठ ने स्वतन्त्र रूप से इस शास्त्र के अध्ययन-अध्यापन कराने का निश्चय किया। इस समय इस शास्त्र का अध्ययन ज्योतिष विभाग के अन्तर्गत विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा प्रदत्त इन्नोवेटिव प्रोग्राम के तहत चल रहा है। इसी के प्रतिफल के रूप में यह "वास्तुशास्त्रविमर्श" ज्योतिष विभाग के इन्नोवेटिव प्रोग्राम-को आर्डिनेटर प्रो० देवीप्रसाद त्रिपाठी ने विभिन्न विद्वानों के शोधपूर्ण लेखों एवं अध्ययनरत छात्रों के विशिष्ट अध्ययन हेतु प्रदत्त लघु-निबन्धों के द्वारा सुसज्जित किया है। यह इनके निरन्तर कार्य करने का एक प्रतिफल है। अतः मैं इस कार्य के लिए इन्हें हार्दिक साधुवाद देता हूँ।

यह विषय आज जितना लोकप्रिय है उतना ही शास्त्रीय भी है। इस शास्त्र के गूढ़ तथ्यों को जन-जन तक पहुंचाने और प्रचलित भ्रान्त धारणाओं के निराकरण में ज्योतिष विभाग द्वारा किया जाने वाला यह कार्य एक स्वच्छ एवं सुदृढ़ भूमिका का निर्वहन कर रहा है। मैं विभागीय सभी विद्वज्जनों को धन्यवाद देते हुए, इस "वास्तुशास्त्रविमर्श" को वास्तुशास्त्र प्रेमियों के अध्ययनार्थ समर्पित करते हुए हर्ष एवं गौरव का अनुभव कर रहा हूँ।

रामनवमी वि.सं. २०६४ — प्रो. वाचस्पति उपाध्याय

दिनाङ्क २७.०३.२००७ ई० — कुलपति

दो शब्द

'वस्तुर्वसतेर्निवासकर्मणः' मुनि यास्क के इस निर्वचन के अनुसार 'वास्तु' शब्द की निष्पत्ति होती है, जिसका निष्पत्तिलभ्य अर्थ है, कि जिसमें प्राणी रहते हों या जो प्राणियों के निवासयोग्य हो, वह वास्तु कहलाता है। भारतीय शास्त्रों की यह परम्परा रही है, कि यहाँ कोई भी कार्य बिना देवकल्पना के प्रारम्भ नहीं किया जाता। अतः भारतीय संगीत शास्त्र 'नादब्रह्म', व्याकरणशास्त्र 'शब्दब्रह्म' इसी प्रकार वास्तुशास्त्र 'वास्तुब्रह्म' तथा अन्यान्य शास्त्र तत्तद् देवभावनाओं से अनुस्पूत हैं। भारतीय कला एवं विज्ञान अध्यात्म अथवा दर्शन की पृष्ठभूमि पर आधारित हैं, जबकि पाश्चात्य कला शास्त्र का आधार मात्र सौन्दर्य तथा विज्ञान का आधार मात्र भौतिकता है। भारतीय वास्तुशास्त्र की यह विशेषता रही है, कि इसका उद्गम वेद से हुआ है। अथर्ववेद के उपवेद स्थापत्यवेद में वास्तु शास्त्र के सिद्धान्तों का स्वतन्त्र रूप से चिन्तन किया गया है। वेद से लेकर वास्तुशास्त्र की शाश्वत परम्परा वर्तमान तक अनवरत चली आ रही है।

मत्स्य पुराण में वास्तुशास्त्र के प्रवर्तक १८ आचार्यों का उल्लेख मिलता है–

भृगुरत्रिर्वसिष्ठश्च विश्वकर्मा मयस्तथा
नारदो नग्नजिच्चैव विशालक्षःपुरन्दरः।
ब्रह्मा कुमारो नन्दीशः शौनको गर्ग एव च
वासुदेवोऽनिरुद्धश्च तथा शुक्रबृहस्पती।।

अष्टादशैते विख्याताः शिल्पशास्त्रोपदेशकाः।

अध्याय २५३, श्लो. २-३-४१

इस प्रकार स्थापत्यवेद से लेकर वर्तमान तक वास्तुशास्त्र का विकसित स्वरूप भारतीय वास्तुशास्त्र के ग्रन्थों में मिलता है, जिसमें कि भारतीय दार्शनिक पृष्ठभूमि पर पञ्चमहाभूतों के सन्तुलन तथा गुरुत्वशक्ति, चुम्बकीय शक्ति एवं सौर ऊर्जा इन तीन प्रकार की शक्तियों के प्रबन्धन के सिद्धान्तों का विस्तार से विचार किया गया है। वैदिक विद्याओं में वास्तुशास्त्र ही एक ऐसी विद्या है, जो मानवजीवन में पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश इन पञ्चमहाभूतों का कैसे उपयोग किया

जाए? इसका सम्पूर्ण रूप से विचार किया गया है, जिससे कि मनुष्य की शारीरिक एवं मानसिक क्षमतायें उन्नत एवं स्वत: स्फूर्त होती हैं। इस प्रकार वर्तमान परिप्रेक्ष्य में मनुष्य के रहने या किसी भी प्रकार के उपयोग में आने वाला आवासीय, धार्मिक, व्यावसायिक अथवा औद्योगिक भूखण्ड वास्तु कहलाता है तथा जिसमें इनके निर्माण के नियमों सिद्धान्तों एवं प्रविधियों का विवेचन किया जाता, उसे वास्तुशास्त्र कहते हैं।

किसी भी प्रकार के वास्तु निर्माण से पूर्व उस वास्तुखण्ड (भूमि) के रंग, गन्ध, स्वाद, आकृति, प्लवन, स्पर्श आदि की दृष्टि से उसकी उपयुक्तता का विचार किया जाता है। उसके पश्चात् शल्य का विचार कर मिट्टी का परीक्षण करके ठोस भूखण्ड वास्तु निर्माण के लिए चुना जाता है। इस प्रकार वास्तु का भौतिक दृष्टि से विचार करके खात एवं शिलान्यास के शुभमुहूर्त का विचार करके दैविक एवं आध्यात्मिक शक्ति के संचार के लिए वास्तुपदविन्यास करते हुए वास्तोष्पति का पूजन किया जाता है। किस-किस निर्माण में किस-किस वास्तुपद का विन्यास करना चाहिए? जैसा कि इस विषय के सन्दर्भ में कहा गया है–

ग्रामे भूपतिमन्दिरे च नगरे पूज्यश्चतुष्षष्टिकै-
रेकाशीतिपदै: समस्तभवने जीर्णे नवाब्ध्यंशकै:।
प्रासादे तु शतांशकैस्तु सकले पूज्यस्तथा मण्डपे
कूपे षण्णवचन्द्रभागसहिते वाप्यां तडागे वने।।

वास्तुरत्नावली-वास्तुपूजनविवेकाध्याय: श्लो. सं. ५

ग्राम, राजगृह एवं नगर के निर्माण में चतु:षष्टिपदवास्तु (६४), समस्तगृहनिर्माण में एकाशीतिपदवास्तु (८१), जीर्णगृहनिर्माण में एकोनपञ्चाशत् पदवास्तु (४९), प्रासाद तथा सम्पूर्ण मण्डप में शतपदवास्तु (१००), कूप, वापी, तडाग एवं वननिर्माण में षण्णवचन्द्रपदवास्तु (१९६) का प्रयोग करना चाहिए।

इस प्रकार भारतीय वास्तुशास्त्र में पुर निवेश से ले कर धार्मिक एवं आवासीय वास्तु को वास्तुपदविन्यास की दृष्टि से सम्पूर्ण रूप में विचार किया गया है। यह प्रसन्नता की बात है कि विद्यापीठ के सम्मान्य कुलपति प्रो. वाचस्पति उपाध्याय जी की प्रेरणा से ज्योतिष विभाग के अध्यक्षचर प्रो. शुकदेव चतुर्वेदी जी के निर्देशन में विभाग के प्रस्ताव पर यू.जी.सी. द्वारा प्रदत्त इन्नोवेटिव प्रोग्राम के अन्तर्गत सत्र २००४ से वास्तुशास्त्र में द्विवर्षीय पी०जी० डिप्लोमा पाठ्यक्रम

प्रारम्भ किया गया है, जिसके को-आर्डिनेटर प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी हैं। इसी सातत्य में प्रारम्भ में ही विभाग द्वारा द्विदिवसीय राष्ट्रिय संगोष्ठी का आयोजन किया गया। जिसमें कि देशभर के विशिष्ट विद्वानों ने वास्तुशास्त्र पर शोधलेख प्रस्तुत किये। जिन लेखों को विद्यापीठ के कुलपति जी ने प्रकाशन करने का निर्देश दिया। उन्हीं को विभाग द्वारा 'वास्तुशास्त्र विमर्श' के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है कि वास्तुशास्त्र के जिज्ञासु सुधीजन इन लेखों से लाभान्वित होंगे, तथा अपने सुझावों से उपकृत करेंगे।

प्रो. प्रेमकुमारशर्मा
अध्यक्ष ज्यौतिष विभाग

सम्पादकीय

भारतीय सभ्यता जितनी प्राचीन है उतनी ही प्राचीन उसकी आवासीय व्यवस्था भी है। आवासीय व्यवस्था के शास्त्र का नाम ही वास्तुशास्त्र है। भारतीय वास्तु कला का प्राचीन रूप ऋग्वेद में दिखाई देता है। यद्यपि ऋग्वेद में आवासीय व्यवस्था से सम्बन्धित कोई अलग से वर्णन नहीं मिलता है, परन्तु इस व्यवस्था से सम्बन्धित शब्दों के विन्यास से ज्ञात होता है कि उस काल में भी एक सदृढ़ एवं विकसित आवासीय व्यवस्था का रूप अवश्य रहा होगा। उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद संहिता में गृह के लिए तीस से अधिक शब्दों का प्रयोग, गृह के अवयवों, उपकरणों, सुरक्षा के प्रकारों से सम्बन्धित शब्दों के विवरणों एवं विश्लेषणों के द्वारा तत्कालीन आवासीय व्यवस्था के महत्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आते हैं।

प्रायः ऐसा वर्णन मिलता है कि ऋग्वैदिक आर्य कृषक और पशुपालक होने के कारण पशुओं की अनुकूलता को देखकर अरण्यों के बीच बसे ग्रामों में रहते थे।[१] ऋग्वेद में ग्राम शब्द का बहुत स्थानों में प्रयोग मिलता है।[२] ग्राम और वन का विभेद भी उपलब्ध होता है।[३] ग्राम प्रायः खुले होते थे, परन्तु कभी-२ सुरक्षा की दृष्टि से इसके भीतर दुर्ग, गढ़ (पुर) बना दिये जाते थे।[४] पत्थर[५] के बने हुए दुर्गों (अश्ममयी) का तथा लोहे के बने पुरों[६] (आयसीपुः) का उल्लेख मिलता है। ब्राह्मणग्रन्थों में मिलने वाले पुरी, पुर, पुः आदि के वर्णन वास्तु के तत्कालीन उन्नति के सूचक हैं।[७] ऋग्संहिता के अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन आर्यों का जीवन संतुष्ट और सुखद था। जहां एकाकी अथवा संयुक्त परिवार के साथ पशु भी रहते थे उसे गृह कहते थे। गृह के भीतर अलग-२

---

1. ऋग्वैदिक आर्य इलाहाबाद 1957, पृष्ठ 215
2. ऋग्वेद, 1/44/10, 1/114/1, 1/140/1, 2/12/7 आदि
3. ऋग्वेद 10/90/8
4. वैदिक इण्डेक्स भाग-2, वाराणसी पृष्ठ 1962, पृ. 273
5. शतमश्मन्मयीनां पुराम्। ऋग्वेद 4/30/20
   अश्मपुर। शतपथ ब्राह्मण 3/1/3/11
6. ऋग्वेद 7/3/7, 7/95/1, 7/15/14, 10/10/8 आदि
7. Indian of the Age of Brahmanas, Calcutta 1969, P.74

प्रखण्डों का वर्णन मिलता है जैस अग्निशाला, पशुशाला आदि। अथर्ववेदसंहिता के दो सूक्तों में शाला के रूपों का वर्णन उपलब्ध होता है। घरों के समूह को ग्राम कहा जाता था। एक घर में एक कुल रहता था। ऋग्वेद में परिवार का वाचक शब्द कुल है। कुल का मूल अभिप्राय ही गृह है। गृह रक्षा के लिए गृह के अधिष्ठाता देवता वास्तोष्पति का पूजन किया जाता था।[1] गृह्यसूत्रों में उल्लिखित नूतन गृह में प्रवेश करने से पूर्व वाष्तोस्पति के पूजन से ही ज्ञात होता है कि यह मूलतः गृह रक्षक देवता है। इस प्रार्थना में निरोगता, धन-सम्पति, पशु-सम्पति के इतर योग और क्षेम की भी याचना की गयी है। यथा ''**पाहि क्षेभे उत्त योगे वरं नः।**''[2]

वैदिक काल में दो प्रकार के आवासीय गृहों का वर्णन मिलता है जैसे अल्प साधन सम्पन्न जनों के लिए पत्थर, लकड़ी, बांस, मिट्टी एवं घास के छोटे तथा साधन सम्पन्न जनों के लिए विशाल, सुदृढ़ एवं सुरक्षित गृह।[3] एक सूक्त में किसी भव्य प्रासाद का सांकेतिक विवरण प्राप्त होता है जिसे हर्म्य कहा गया है। जिसमें माता-पिता एवं अन्य सभी जन निवास करते हैं। सुरक्षा की दृष्टि से पुष्ट श्वानों का वर्णन भी मिलता है।[4] एक मन्त्र में ऋषि ने कामना की है कि हमारा निवास स्थान सर्वाधिक सुरक्षित हो। यथा-**सुप्रावीरस्तु स क्षयः प्र नु यामन् त्सुदानवः।**[5] हमारा घर द्रोहकारी निन्दकों से बचा रहे और दीर्घकाल तक स्थिर रहे। यथा-**ताँस्त्रायस्व सहस्य द्रुहो निदो यच्छव शर्म दीर्घश्रुत।**'[6] अश्विनी कुमारों से प्रार्थना है कि हमारा यश एवं छर्दि (घर) ध्रुव (स्थिर) रहे।[7] अतिथि तथा उपासक धनधान्य[9] एवं पुत्र पौत्रों से सम्पन्न घर में ही रहना चाहता है।[8] अतः ऋग्वेद में सन्तान, यश, धन, अन्न से पूर्ण घरों की कामना की गयी है। इससे सिद्ध होता है कि उस समय का मानव पूर्ण गृह सुख के लिए प्रत्यत्नशील रहता था। सुन्दर, समृद्ध विशाल और सुरक्षित गृह की इच्छा को सुव्यक्त करने वाली ऋषि की उक्तियां उल्लेखनीय हैं कि हे वरुण मैं मृण्मय (मिट्टी) के गृह में नहीं अपितु तुम्हारे बृहद् परिणाम वाले सहस्रों द्वार वाले गृह में जाना चाहता हूँ।[9] यह मृण्मय गृह और

---

1. ऋग्वेद 1/127/8, 2/39/2
2. ऋ. 7/54/3
3. ऋ. 7/89/1
4. ऋ. 7/55/1-6
5. ऋ. 7/66/05
6. ऋ. 7/16/8
7. ऋ. 7/74/05
8. ऋ. 7/67/10, 7/40/5
9. ऋ. 7/1/11

सहस्रद्वार गृह ऋग्वैदिक गृह परिकल्पना को उद्घाटित करता है। ऋग्वेदसंहिता में त्वष्ट्रा और ऋभु को गृहनिर्माण करने वाला कुशल निर्माता कहा गया है।[२] वैदिककालीन वास्तुशास्त्र में गृह की सदृढ़ता, सुरक्षा एवं विशालता पर अधिक बल दिया गया है। कुछ लोगों के कथनानुसार सिन्धुघाटी सभ्यता ही अति प्राचीन है परन्तु वैदिककालीन वर्णन से ज्ञात होता है कि वैदिक सभ्यता इससे भी पुरातन एवं सुव्यवस्थित सभ्यता रही जो आज तक चली आ रही है। अतः वैदिक आवासीय व्यवस्था से इस सभ्यता की तुलना पुनर्चिन्तन को बाध्य करती है।

समग्र वैदिकवाङ्मय से ज्ञात होता है कि भारतवर्ष जहाँ धार्मिक संस्कारों से अनुप्राणित है वहीं दूसरी ओर सौन्दर्य से परिपूर्ण है। कलाकारों ने भारतीय स्थापत्य को अपनी उदात्त परिकल्पनाओं द्वारा सदा मण्डित करने का उत्तम प्रयत्न किया है। पूर्व वैदिक काल में मन्दिरों के स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलते है। उत्तर वैदिक एवं उपनिषद काल में प्रतिमाओं के उल्लेख मिलते हैं। ई. पूर्व चौथी शताब्दी से मन्दिरों के उल्लेख मिलने प्रारम्भ होते हैं।[३] प्राचीन भारत में मन्दिरों की दो प्रमुख शैलियां मिलती है जिसमें पहली नागर तथा दूसरी द्राविण। इन दोनों शैलियों के मिश्रण से बेसर शैली का उद्भव हुआ। मत्स्यपुराण के अनुसार वास्तुशास्त्र के १८ आचार्य प्रसिद्ध हैं जिनके नाम हैं - भृगु, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वकर्मा, मय, नारद, नग्नजित्, विशालाक्ष, पुरन्दर, नन्दीश, शौनक, गर्ग, वासुदेव, अनिरुद्ध, शुक्र, बृहस्पति एवं अश्विनीकुमार। मन्दिर निर्माण में नागर शैली के शम्भु, गर्ग, अत्रि, वसिष्ठ, पराशर, बृहद्रथ, विश्वकर्मा तथा वासुदेव और द्राविण शैली के ब्रह्मा त्वष्ट्रा, मय, मातंग, भृगु, काश्यप आदि प्रमुख आचार्य माने जाते हैं। वास्तुशास्त्र के उद्भावकों में विश्वकर्मा एवं मय के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। विश्वकर्मा देवों के स्थपति एवं मय दानव शिल्प के प्रवर्तक आचार्य के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं।

संस्कृत साहित्य में स्थापत्य कला से सम्बन्धित तीन विभाग प्रसिद्ध हैं। वास्तुशास्त्र, शिल्पशास्त्र एवं चित्रशास्त्र। वास्तुशास्त्र के प्रसिद्ध आचार्यो ने शिल्पशास्त्र को वास्तुशास्त्र का ही पर्याय कहा है। धाराधिपति भोजराज के समराङ्गणसूत्रधार के अवलोकन से ज्ञान होता है कि चित्र और शिल्प वास्तुशास्त्र के अन्तर्गत ही समाहित हैं। समराङ्गणसूत्रधार के अनुसार वास्तुशास्त्र-जनभवन, राजभवन और देवभवन तथा शिल्पशास्त्र-प्रतिमा, यन्त्रनिर्माण, चित्रशास्त्र-सज्जा एवं आलेख से

---

1. ऋ. 7/89/01,.7/88/5
2. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि पृ. 210
3. भारतीय वास्तुकलां का इतिहास पृ. 4

सम्बन्धित विभागों के नाम हैं। इन सभी के एकत्व का नाम ही भारतीय वास्तुशास्त्र अथवा भारतीय स्थापत्य कला है।

प्राप्त वास्तुशास्त्रीय स्वतन्त्र ग्रन्थों में से समराङ्गणसूत्रधार और शिल्परत्न सम्पूर्ण वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थ हैं क्योंकि इन दोनों ग्रन्थों में भवन, प्रतिमा, यन्त्र एवं चित्रादि वास्तुशास्त्रीय सभी विषयों का समावेश मिलता है। समराङ्गणसूत्रधार के समकालिक कृति अपराजितपृच्छा भी समराङ्गणसूत्रधार का ही समर्थन करती है। मानसार और मयमतम् में भवनों (विमानों) एवं प्रतिमाओं का ही वर्णन मिलता है। वास्तुशास्त्र के ग्रन्थों की एक विस्तृत सूची उपलब्ध होती है। स्वतन्त्र ग्रन्थों के अतिरिक्त भी आदिकाल से ही समग्र वैदिक साहित्य, रामायण, महाभारत, अष्टाध्यायी, अर्थशास्त्र, जैनग्रन्थ, बौद्धग्रन्थ, आगम, तन्त्र, पुराण एवं बृहत्संहितादि संहिता ग्रन्थों में वास्तुशास्त्र सम्बन्धित प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है। पुराणों में मत्स्य एवं विष्णुधर्मोत्तर प्रमुख है–उत्तरवर्ती काल में स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में सैकड़ों ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। उपलब्ध कुछ प्रमुख ग्रन्थ है। सूत्रधारमण्डन, विश्वकर्माप्रकाश समराङ्गणसूत्रधार, अपराजितपृच्छा, जयपृच्छा, वास्तुरत्नावली, विश्वकर्मीयशिल्प, मयमत, मानसार, काश्यपशिल्प, शिल्पसंग्रह, शिल्परत्न, चित्रलक्षण, मनुष्यालयचंद्रिका, प्रासादमण्डन, कोदण्डमण्डन, वास्तुरत्नाकर आदि।

वास्तुशास्त्र की एक विस्तृत परम्परा एवं वर्तमान में वास्तुशास्त्र के स्वरूप को देखते हुए हमारे यशस्वी कुलपति प्रो. वाचस्पति उपाध्याय जी ने अपनी योजना से तत्कालीन वेदवेदाङ्ग संकाय प्रमुख एवं ज्योतिषविभागाध्यक्ष प्रो. शुकदेव चतुर्वेदी जी को अवगत कराया। कुलपति महोदय के दृढ़ संकल्प एवं प्रो. चतुर्वेदी जी के अथक प्रयत्न का ही प्रतिफल है कि इस शास्त्र के अध्ययन के लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने ज्योतिष इन्नोवेटिव प्रोग्राम के अन्तर्गत वास्तुशास्त्र में अध्ययन अध्यापन की स्वीकृति प्रदान की। इसी उद्देश्य की सम्पूर्ति में विभाग ने द्विवर्षीय पी.जी. डिप्लोमा पाठ्यक्रम तैयार कर जुलाई २००४ से अध्ययन अध्यापन प्रारम्भ किया। इस पाठ्यक्रम के अन्तर्गत अभी तक एक राष्ट्रीय संगोष्ठी तथा प्रतिवर्ष होने वाले विजिटिंग फैकल्टी के व्याख्यान निरन्तर होते आ रहे हैं। पी.जी. डिप्लोमा के छात्रों को प्रतिवर्ष में एक प्रायोगिक अध्ययन के रूप में एक विशिष्ट विषय प्रदान किया जाता है। इस विषय पर एक लघु निबन्ध तैयार कर छात्र विभाग में जमा करते हैं। अभी तक के सेमीनार, विजिटिङ्ग फैकल्टी व्याख्यान एवं छात्रों के द्वारा किये गये लघुनिबन्धों में से जिन को प्रकाशन समिति ने प्रकाशन योग्य पाया उन्हें इस वास्तुशास्त्रविमर्श के माध्यम से वास्तुशास्त्र प्रेमियों तक पहुँचाने का प्रथम प्रयास किया गया है। हमारा विभाग इस कार्य में कितना

सफल रहा, इसका निर्णय तो पाठक स्वयं करेंगे। सर्वप्रथम एतदर्थ मैं संस्कृत उन्नायक परमश्रद्धेय कुलपति प्रो. वाचस्पति उपाध्याय जी के चरणों में प्रणाम करते हुए कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिनकी सत् प्रेरणा एवं दृढ़ संकल्प से यह योजना निर्बाधगति से अपना कार्य कर रही है। इस योजन को कार्य रूप में परिणत करने एवं सम्यक् निर्देशन के लिए अवकाश प्राप्त आचार्य प्रो. शुकदेव चतुर्वेदी जी के हम कृतज्ञ हैं। इस वास्तुशास्त्र विमर्श के प्रकाशन में उत्साह वर्धन करने वाले हमारे कुशल प्रशासक कुलसचिव डॉ. बी.के. महापात्र जी तथा शोध एवं प्रकाशन विभागाध्यक्ष प्रो. रमेश कुमार पाण्डेय जी का सराहनीय योगदान रहा। अत: इन्हें मैं हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। अन्त में प्रकाशन समिति के अध्यक्ष एवं ज्योतिष विभागाध्यक्ष प्रो. प्रेमकुमार शर्मा जी व अन्य सभी सदस्यों के प्रति हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ जिनके सद्परामर्श से **''वास्तुशास्त्र विमर्श''** का प्रकाशन हो सका। मुद्रण कार्य के लिए अमर प्रिटिंग प्रेस एवं अन्य सभी सहयोगी सुहृद जनों का जिनका सहयोग इस ग्रन्थ के सम्पादन में प्राप्त हुआ, हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। शमिति

प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी
को-आर्डिनेटर-इन्नोवेटिव प्रोग्राम

शोध एवं प्रकाशन समिति

१.	प्रो. प्रेमकुमार शर्मा	अध्यक्ष
२.	प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी	संयोजक
३.	डॉ. विहारीलाल शर्मा	सदस्य
४.	डॉ. विनोदकुमार शर्मा	सदस्य
५.	डॉ. नीलम ठगेला	सदस्य
६.	डॉ. दिवाकरदत्त शर्मा	सदस्य
७.	डॉ. परमानन्द भारद्वाज	सदस्य
८.	डॉ. सुशीलकुमार शर्मा	सदस्य
९.	डॉ. फणीन्द्रकुमार चौधरी	सदस्य
१०.	डॉ. रश्मि चतुर्वेदी	सदस्य

विषय अनुक्रमणिका

वैदिक वाङ्मय में विज्ञान

प्रो० रामचन्द्र पाण्डेय

समस्त वैदिक वाङ्मय ज्ञान एवं विज्ञान का ही प्रतिपादन करता है। इसीलिए उसकी संज्ञा वेद है। समस्त जीवन पद्धति का निरूपण करने के साथ-साथ समस्त प्राणिमात्र की हित कामना से सृष्टि के आरम्भ से सृष्टि के अवसान तक के अनेक वैज्ञानिक पक्षों का निरूपण वेदों में देखने को मिलता है। किसी भी अति प्राचीन साहित्य को समझने के लिए तत्कालीन परिवेश एवं साहित्य के सर्जक को भी समझना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। वेद के साथ यही कठिनाई है। एक लम्बे अन्तराल के कारण आज तक वेद की भाषा वैदिक परिवेश तथा उसके सर्जक एक सरल एवं सर्वगम्य भाषा में परिभाषित नहीं हो सके। परिणामतः आज विश्व का प्राचीनतम विज्ञान केवल श्रद्धा का विषय बन कर रह गया है। कुछ प्रबुद्ध मनीषियों ने वेदों के कुछ अंशों को विज्ञान की दृष्टि से परिभाषित करने का प्रयास किया है। उन्हीं मनीषियों के अनुसन्धान के आलोक में विज्ञान के कुछ बिन्दुओं की ओर ध्यानाकर्षण का एक संक्षिप्त प्रयास कर रहा हूँ।

सर्व प्रथम मैं सृष्टि प्रक्रिया का उल्लेख करना चाहूँगा। आधुनिक विज्ञान भी इस गहन गुत्थी को सुलझाने में अहर्निश प्रयत्नशील है। वेदों ने सृष्टि प्रक्रिया का उल्लेख कई प्रकार से किया है किन्तु सभी विधियों का पर्यवसान किस प्रकार एक नियम में होगा यह निष्कर्ष रूप में ज्ञात नहीं हो सका। वेदों में कुछ संकेत ऐसे मिल रहे हैं जिनके आधार पर शोधकार्य को दिशा मिल रही है। उनमें से दो संकेतों का उल्लेख करना चाहूँगा। प्रथम-"**ऋतं च सत्यं चाभीद्धातपसोऽध्यजायत... .. यथा पूर्वमकल्पयत्**[१]" इस मन्त्र से दो सिद्धान्त प्रगट होते हैं।

प्रथम सिद्धान्त-सृष्टि क्रम एक सुनिश्चित प्रक्रिया के अन्तर्गत स्वयं परिचालित होता है जिसका नियन्ता स्वयं ब्रह्मा हैं। जिस क्रम से सृष्टि प्रारम्भ होती है उसी क्रम से उसका विलय एवं पुनः प्रारम्भ होता है। सृष्टि प्रक्रिया का क्रम ब्राह्मण ग्रन्थों एवं संहिताओं में बतलाया गया है। इनमें तैत्तिरीयोपनिषद का क्रम अत्यन्त सुव्यवस्थित है। इसमें कहा गया है-"सर्व प्रथम आकाश की उत्पत्ति हुई अनन्तर आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधियाँ,

---

१. ऋ०सं० १०.१९०.३

औषधियों से अन्न तथा अन्न से मनुष्य की उत्पत्ति हुई।[१]

सभी प्रकार की सृष्टि एक साथ स्वतन्त्र रूप से होती है। किसी जीव का परिष्कार दूसरे जीव के रूप में नहीं होता। युगपत् सृष्टि का क्रम ही वैदिक सिद्धान्त है।

द्वितीय सिद्धान्त—अग्नि जिसे सूर्य, ऊर्जा या तेज कहा गया है, उसी के द्वारा सृष्टि होती है। जैसा कि महर्षि व्यास ने कहा है—

> **नक्षत्रग्रहसोमानां प्रतिष्ठायोनिरेव च।**
> **चन्द्र-ऋक्षग्रहाः सर्वे विज्ञेयाः सूर्यसम्भवाः।।**[२]

सूर्यसिद्धान्त भी कहता है कि सर्व प्रथम सूर्य की उत्पत्ति हुई पश्चात् सूर्य से सारी सृष्टि हुई। इसीलिए कहा गया है—

> **"आदित्यो ह्यदिभूतत्वात् प्रसूत्या सूर्य उच्यते।[३]"**

आधुनिक विज्ञान ने भी विश्वोत्पत्ति सम्बन्धी अपने अनुसन्धानों में सूर्य की भूमिका को ही विशेष महत्त्व दिया है। विस्फोट और विगबैन सिद्धान्त का मूलाधार ही सूर्य है। जैविक सृष्टि के सन्दर्भ में वेदों का स्पष्ट उद्घोष है—"अग्निसोमात्मकं जगत्।" अग्नि (सूर्य) और सोम के सहयोग से ही सृष्टि होती है। अग्नि का वाहक या कारक सूर्य है तथा सोम का वाहक चन्द्रमा। सूर्य ऊर्जा का स्रोत है तथा चन्द्रमा अमृतत्व (जीवन) का स्रोत है। सूर्य की रश्मि ही चन्द्रमा के अमृत को अपने माध्यम से अन्य पिण्डों तक पहुँचाती है जिससे जीवन का संचार होता है। जहाँ-जहाँ सूर्य और सोम का समुचित प्रवाह है वहाँ-वहाँ जीवन है। जहाँ इनका अभाव है वहाँ जीवन का भी अभाव है। आज विज्ञान इस ब्रह्माण्ड में पृथ्वी से इतर किसी अन्य पिण्ड पर जीवन है या नहीं इसकी खोज में अनवरत प्रयत्नशील है। वैदिक सिद्धान्त के अनुसार स्थावर एवं जंगम दोनों प्रकार की सृष्टि अग्नि और सोम पर ही आधारित है। सोम का सम्बन्ध अन्य पिण्डों या पृथ्वी से सूर्यरश्मियों के माध्यम से होता है। सूर्य की रश्मियों का उल्लेख वेदों में कई प्रकार से किया गया है।[४] प्रसंगतः रश्मियों के सन्दर्भ में

---

१. तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथ्वी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधीभ्योऽन्नम्, अन्नात् पुरुषः। तैत्तिरीयोपनिषत् २.१

२. मत्स्य पु० १२७.२९

३. सूर्य सिद्धान्त भू०अ० १५

४. सप्तसुञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो बहति सप्तनाम। ऋ०सं० १.१६४.२

वैदिक दृष्टिकोण का उल्लेख भी यहाँ आवश्यक है। सूर्य को सप्तरश्मि कहा गया है–सूर्य की इन सात रश्मियों के नाम और उनके प्रभाव का उल्लेख करते हुए भगवान व्यास ने कहा है[१]–

सुषुम्नो हरिकेशश्च विश्वकर्मा तथैव च।
विश्वव्यचाः ततश्चान्यः संयद्वसुरतः परः।।

अर्वावसुरिति ख्यातः स्वराडन्यः प्रकीर्तितः।
सुषुम्नः सूर्यरश्मिस्तु पुष्णाति शिशिरद्युतिम्।।

अर्थात् सुषुम्ना, हरिकेश, विश्वकर्मा, विश्वव्यचा, अर्वावसु, संयद्वसु तथा सुराट् नामक सूर्य की ये सात रश्मियाँ हैं जिन्हें ऋग्वेद में सात अश्वों के रूप में कहा गया है। ये रश्मियाँ ही समस्त सृष्टि प्रक्रिया में विभिन्न रूपों में सहायक हैं। इनमें से सुषुम्ना नामक रश्मि चन्द्रमण्डल को प्रकाशित करती हुई चन्द्रतल से अमृतबिन्दुओं को पृथ्वी तक पहुँचाती हैं। जिनसे जीवन का संचार होता है। परन्तु यह जीवन किस रूप में दृश्य होगा? कोई भी जड़ चेतन शरीर बिना पंचमहाभूतों के मिश्रण से दृश्य नहीं हो सकता। अतः शेष छः रश्मियों में पाँच रश्मियाँ पंच महाभूतों की संवाहिका है। सूर्य सिद्धान्त में कहा गया है–

अग्निषोमौ भानुचन्द्रौ ततस्त्वंगारकादयः
तेजोभूखाम्बुवातेभ्यः ग्रहा पंच जज्ञिरे।[२]

अर्थात् एक-एक रश्मि एक-एक ग्रह का पोषण करती है तथा वहाँ के प्रभाव को ब्रह्माण्ड में फैलाती हैं, जिनसे पंचमहाभूतों की क्रियाशीलता बढ़ती है तथा उनके प्रभाव से विविध रूपों में सृष्टि के दर्शन होते हैं। इन सात रश्मियों में से सोम की संवाहिका सुषुम्ना रश्मि चन्द्र को पोषित करती है, तेज (ऊर्जा) की संवाहिका हरिकेश नामक रश्मि नक्षत्रों से सम्बन्ध रखती है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि एक ऊर्जा स्रोत अपने समान गुणधर्म वाले अन्य ऊर्जास्रोतों से भी सम्बन्ध स्थापित कर अपनी ऊर्जाशक्ति का सन्तुलन बनाते रहते हैं। जैसा कि कहा है–

एवं सूर्यप्रभावेण सर्वा नक्षत्रतारकाः।
वर्धन्ते बर्धिता नित्यं नित्यमाप्यायन्ति च।।[३]

---

१. कूर्म पु० १.४१.३-४
२. सूर्यसिद्धान्त भू०अ० २४
३. कूर्म पु० १.४१.९

शेष विश्वकर्मा रश्मि भू तत्व की संवाहिका है, यह बुध को प्रकाशित एवं पोषित करती है। विश्वव्यचा जल तत्व की संवाहिका होने से शुक्र को, संयद्वसु तेज की संवाहिका होने से भौम को, अर्वावसु आकाश तत्व की संवाहिका होने से बृहस्पति को तथा वायु तत्व की संवाहिक सुराट् नामक रश्मि शनि को पोषित करती है। इसी प्रकार जब हम सहस्र रश्मियों के सन्दर्भ में विचार करते हैं तो कई तथ्य सामने आते हैं। इन तथ्यों पर प्रकाश डालने से पूर्व इन सहस्र रश्मियों का संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक है। सूर्य की प्रत्येक रश्मि के १००० सूक्ष्म विभाग हैं।[१] इनको प्रमुख रूप से तीन भागों में विभक्त किया गया है।

१. वृष्टि सर्जना नाड़ी (अमृता)–इनमें १००-१०० रश्मियों की वन्दना, याज्या केतना तथा भूतना नामक चार उप नाड़ियाँ होती हैं। अर्थात कुल ४०० रश्मियाँ अमृता संज्ञक होती हैं।

२. हिमसर्जना नाड़ी (चन्द्रा)–इसमें १००-१०० रश्मियों की मेघ्य, पौष और ह्लादिनी नामक तीन उप नाड़ियाँ होती हैं। इसमें कुल ३०० रश्मियाँ होती हैं।

३. घर्मसर्जना नाड़ी (शुक्रा)–इसमें १००-१०० रश्मियों की ककुभ, गौ तथा विश्वभृत नामक कुल तीन उप नाड़ियाँ हैं इनकी कुल संख्या ३०० है। इस प्रकार तीनों नाड़ियों की रश्मियों की कुल संख्या १००० होती इसीलिए सूर्य को सहस्र रश्मि कहा जाता है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि सूर्यरश्मियाँ केवल ऊष्णता ही नहीं प्रदान करती अपितु शीत और हिम की भी कारण होती हैं। जब हम इन रश्मियों में हिमसर्जना और वृष्टि सर्जना की चर्चा करते हैं तो हमें रमन इफेक्ट का स्मरण हो आता है।[२] सन् १९२८ में सर सी.वी. रमन ने जब समुद्र के गहरे जल के नीलेपन का रहस्योद्घाटन किया था। इससे पूर्व यही धारणा थी कि गहरे जल में आकाश का नीलारंग ही प्रतिबिम्बित होता है। परन्तु अपनी समुद्र यात्रा के समय ही सर सी.वी. रमन ने नीलेपन का कारण ढूंढ़ लिया था किन्तु उसकी आधिकारिक घोषणा २८ फरवरी १९२८ को की गई। सर सी. वी. रमन ने सिद्ध किया कि जल में दीखने वाला नीला रंग वस्तुतः जल के अणुओं द्वारा प्रकाश के प्रकीर्णन से होता है। अर्थात् रंग की सत्ता में भी प्रमुख रूप से सूर्य की

---

१. कूर्म पु० १.४१.११-१४

२. प्रज्ञा (सर सी.वी. रमन स्मृति अंक) १९८७-८८ पृ० २९७

विविक्त रश्मियाँ ही हेतु हैं। क्योंकि स्पष्ट रूप से कहा गया है कि "जल के अणुओं पर आपतित प्रकाश की विविक्त किरणों के प्रकीर्णन से नीला रंग समुद्र के गहरे जल में दृश्य होता है।" सूर्य की रश्मियों के जो सूक्ष्म विभाग हैं उन्हीं विविक्त किरणों (रश्मियों) के प्रकीर्णन से ही उक्त प्रभाव का सम्बन्ध है। इस प्रकार वैदिक साहित्य में सूर्य से सम्बन्धित अनेक ऐसे तथ्य हैं जिनपर गहन चिन्तन की अपेक्षा है। सूर्य के साथ-साथ खगोल से सम्बन्धित अनेक विषयों के प्रतिपादन एवं उपलब्धियों के भण्डार वेदों में निहित हैं। ज्योतिष शास्त्र वेदांग ही नहीं अपितु वेद का नेत्र भी माना जाता है। अतः यहाँ ज्योतिष की चर्चा न करते हुए उन बिन्दुओं की ओर इंगित करना अधिक उपयुक्त होगा जिनको आज की परिभाषा में विज्ञान कहा जाता है। विज्ञान की लगभग सभी विधाओं का मूल गणित शास्त्र है। इसका भी शुभारम्भ वेदों से ही होता है।

१. गणित—प्रारम्भिक गणित के प्रमुख तीन भेद होते हैं। १. अंकगणित, २. बीजगणित तथा ३. रेखागणित। जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ वेदों में बीजगणित के संकेत नहीं है। किन्तु अंकगणित और रेखागणित के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं। सर्वप्रथम वैदिक कालगणना ही स्वयं गणित का उत्कृष्ट उदाहरण हैं। काल की सूक्ष्म इकाई का विभाजन करते हुए वैदिक ऋषियों में १ सेकण्ड के ३७९६८वें भाग तक का मान निकाल लिया।[१] काल की सबसे सूक्ष्म इकाई का नाम परमाणु रखा है। एक परमाणु का मान सेकेंण्ड में परिवर्तित करने पर दशमलव में ०.००००२६ सेकेण्ड (१ परमाणु = १/३७९६८ सै०) के तुल्य होता है। काल की बड़ी इकाई का मान एक के ऊपर १९ शून्य रखने पर आता है। जहाँ तक मैं जानता हूँ इतनी सूक्ष्म से लेकर इतने बड़े अंकों वाली संख्याओं का अंक विस्तार विश्व के किसी भी साहित्य में उपलब्ध नहीं था, आज भी सम्भवतः उपलब्ध नहीं है।

यजुर्वेद में उपलब्ध गणित के श्रेढ़ी व्यवहार का एक उदाहरण उल्लेखनीय है। चय प्रक्रिया का संकेत करते हुए पहले दो की वृद्धि के साथ १७ अंकों का तथा ४ की वृद्धि के साथ १२ अंकों का उदाहरण दिया है। पहले उदाहरण में आदि १ है। अर्थात् एक से संख्या का आरम्भ होता है। तथा २-२ की वृद्धि के साथ संख्या १७ अंकों तक आगे बढ़ती है।

---

१. १ त्रुटि = त्र्यसरेणु = ०.०००४७ सेकेण्ड, १ त्र्यसरेणु = ३ अणु = ०.०००१५ सेकेण्ड
१ अणु = २ परमाणु = ०.००००५२ सेकेण्ड, १ परमाणु = ०.००००२६ सेकेण्ड = १/३७९६८ सेकेण्ड

"एका च मे तिस्रश्च मे पंच मे .... त्रयस्त्रिंशच्च मे।[१]

इस प्रकार चय (वृद्धि) के उदाहरण में अन्तिम संख्या (सर्वधन) का ज्ञान करने के लिए भास्कराचार्य ने सूत्र दिया है–

"व्येकपदघ्नचयो मुखयुक्स्यादन्त्यधनं" (लीलावती)[२]

अर्थात् एक रहित पद को चय से गुणा कर आदि संख्या जोड़ने से अन्तिम संख्या का मान आता है। यहाँ आदि = १, चय = २, पद = १७ अतः सूत्रानुसार गणित करने पर–

१७ – १ = १६, १६ × २ = ३२, ३२ + १ = ३३ सर्वधन (अन्तिम संख्या) ये विषम संख्यायें ३३ वैदिक देवताओं (८ वसु + ११ रुद्र + १२ आदित्य + १ इन्द्र + १ प्रजापति = ३३) की सूचक हैं। इसी प्रकार सम संख्याओं की चयात्मक श्रेढ़ी का उदाहरण है। यथा–

"चतस्रश्च मेऽष्टौ च मे .... अष्टचत्वारिंशच्च मे।[३]"

यहाँ आदि (मुख) ४, चय ४ तथा पद १२ हैं। अतः सूत्रानुसार (१२ – १) ४ + ४ = ४८ सर्वधन का मान हुआ। यह संख्या जगती छन्द की अक्षर संख्या की सूचक है।

दूसरा उदाहरण यजुर्वेद का ही मन्त्र है–**"सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिसप्त समिधः कृताः"** यह वृत्त और परिधि के सम्बन्ध का द्योतक है। मन्त्र के अनुसार वृत्त और परिधि में ७ और २१ का सम्बन्ध है, जो स्वल्पान्तर से गणितीय सिद्धान्त के अनुरूप है। गणित का सूत्र है–

व्यासे भनन्दाग्निहते विभक्ते खबाणसूर्यैः परिधिः स सूक्ष्मः।
द्वाविंशतिघ्ने विहृतेऽथ शैलैः स्थूलोऽथवा स्याद् व्यवहारयोग्यः।।[४]

अर्थात् व्यास को ३९२७ से गुणा कर १२५० से भाग देने पर सूक्ष्म परिधि का मान आता है। तथा व्यास को २२ से गुणा कर ७ का भाग देने से स्थूल परिधि का मान होता है। २२/७ का मान ३.१४३ तथा २१/७ का मान ३ होता है जो स्वल्पान्तर से बराबर ही है।

---

१. यजु० (रुद्राष्टाध्यायी) २.२४
२. लीलावती श्रेढ़ी० ३
३. यजु० (रुद्राष्टाध्यायी) २.२५
४. लीलावती क्षेत्र० ४०

शुल्बसूत्रों में जहाँ विविध वेदियों एवं चितियों की चर्चा है वह सम्पूर्ण गणितीय विषय है। वृत्त के क्षेत्रफल तुल्य चतुर्भुज बनाना या चतुर्भुज तुल्य वृत्त बनाना यह सब रेखागणित के अन्तर्गत आता हैं। चितियों में प्रयोग होने वाले ईंटों के साँचे का निर्माण भी कुशल तकनीकी प्रक्रिया से ही होता था क्योंकि अंगुल मान से लेकर हस्त प्रमाणों में वर्ग, आयत, त्रिकोण, अर्धवृत्त, पंचकोण आदि आकृतियों के ईंटों के निर्माण तथा उन्हें पकाने एवं वेदियों तथा चितियों में सुरक्षित स्थापित करने की जो प्रक्रिया है उससे ज्ञात होता है कि पहले चिति या वेदी का मानचित्र बनाते थे। तदनुसार परिमाण एवं आकृति का निर्धारण कर ईंटों का निर्माण होता था। ईंट को काटकर या गढ़कर लगाने की प्रथा वेदियों या चितियों में नहीं थी। ईंटों की गणना हेतु दस से लेकर परार्ध तक की विशाल संख्याओं का उल्लेख किया गया है।[१]

२. खगोल–सामान्य गणित के साथ-साथ खगोलीय गणित का भी चमत्कारिक उदाहरण ग्रहण के सन्दर्भ में उपलब्ध होता है। ग्रहों का भगण काल का ज्ञान कर उनकी गति एवं भगण पूर्ति काल के आधार पर ग्रहण चक्र का संकेत किया गया है जिससे एक ग्रहण की पुनरावृत्ति १८ वर्ष ११ दिनों में होती है। इस ग्रहण चक्र की उपपत्ति इस प्रकार है–

एक चान्द्रमास में २९.५३ दिन होते हैं। चन्द्रमा का नक्षत्रचक्रभ्रमण काल २७.३२१७ दिनों का होता है। अत: २२३ चान्द्र मासों तथा २४१ चान्द्रभगणों के काल लगभग तुल्य होते हैं। इस प्रकार जब तक चन्द्रमा २४१ भगण पूर्ण करता है, तब तक केवल २२३ चान्द्रमास पूर्ण हो पाते हैं। अर्थात् १८ भगण अथवा १८ × २७ = ४८६ नक्षत्र चन्द्रमा तब तक आगे हो जाता है। अत: त्रैराशिक से ज्ञात होता है कि एक चान्द्रमास में चन्द्रमा २.१७ अर्थात् दो नक्षत्रों से कुछ अधिक आगे होता है। यही कारण है कि मासान्त में कभी दो तथा कभी ३ नक्षत्रों का अन्तर आ जाता है। २२३ चान्द्रमास लगभग १८ वर्ष ११ दिनों के तुल्य होते हैं। चन्द्रमा अपनी गति से लगभग २७.२१२१ दिनों में अपने पात (राहु) स्थान पर आ जाता है। अत: ग्रहण का काल भी सम्भावित रहता है। इसी आधार पर १८ वर्ष तथा ११ दिनों के अन्तराल पर ग्रहणों की पुनरावृत्ति का पूर्व ज्ञान कर लिया जाता था। सरलता हेतु गणित द्वारा काल मानों की समता प्रदर्शित है[२]–

२२३ चान्द्रमास	=	२२३ × २९.५३	=	६५८५.३२ दिन
२४१ भगण	=	२४१ × २७.३२१७	=	६५८५.५२ दिन

१. बौधायन शु०सू०अ० २,४,७
२. ज्योतिर्निबन्धावली पृ० ९४

२४२ चन्द्रराहुयोग	=	२४२ × २७.२१२१	=	६५८५.३३ दिन
१८ वर्ष ११ दिन	=	१८ × ३६५.२५६३ × ११	=	६५८५.६१ दिन

वैदिकगणित के सन्दर्भ में शंकराचार्य स्वामी श्री भारतीकृष्णतीर्थ जी ने जिन सूत्रों की रचना की है वे अपने आप में स्वतः प्रमाण हैं। भास्कर आदि आचार्यों की रचनायें भी अपनी वैदिक परम्परा की ही परिचायिका हैं। गणित के अतिरिक्त अन्य विषयों की ओर दृष्टि डालने पर अनेक महत्त्वपूर्ण सामयिक विषयों पर गहन चिन्तन के सूत्र मिलते हैं। उनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं का उल्लेख करना चाहूँगा।

ब्रह्माण्ड के अपारत्व की ओर संकेत करते हुए कहा गया है–**"तीन द्युलोक हैं, उनमें से दो सविता के उदर में हैं।"** अर्थात् एक द्युलोक की हम कल्पना कर पाते हैं। इसके बाद ऋषि ने स्पष्ट कह दिया–**"इह ब्रवीतु य उ तच्चिकेतत्"** अर्थात् ब्रह्माण्ड को समग्र रूप में यदि कोई जानता हो तो मुझे बताये। अभिप्राय स्पष्ट है, कोई नहीं जानता।[1]

इन्द्र का परिचय देते हुए ऋषि ने सृष्टि के आरम्भ में पृथ्वी की स्थिति की ओर संकेत करते हुए कहा है कि–**"जिसने काँपती हुई पृथ्वी को स्थिर किया है उसे इन्द्र कहते हैं।[2]"** पृथ्वी के गोलत्व, निराधारत्व तथा सूर्याकर्षण वशात् आकाश में स्थिति के स्पष्ट उल्लेख से पृथ्वी के वास्तविक स्वरूप का पूर्णतः आभास हो जाता है। इतना ही नहीं पूर्व क्षितिज पर कृत्तिका नक्षत्र की सूचना अयनबिन्दु का संकेत करता है। ज्योतिषशास्त्र तो वेद का नेत्र ही है अतः उसका उल्लेख वेदों में अनेक स्थलों पर होना स्वाभाविक है। इसलिए यहाँ ज्योतिषशास्त्र के सन्दर्भों की चर्चा न कर अन्य वैज्ञानिक बिन्दुओं की ओर ध्यानाकर्षण करने का प्रयास करूँगा।

१. बृहदारण्यक में पुत्रमन्थ [3]कर्म के अन्तर्गत इच्छानुसार रंग-रूप और स्वभाव वाले सन्तान की उत्पत्ति का विधान बताया गया है। इस कर्म में उपयुक्त काल और विशिष्ट आहार का प्रयोग होता है तथा गर्भाधान के अनन्तर विविध संस्कारों का विधान है। आज का विज्ञान भी इस विषय पर गहन अनुसन्धान और प्रयोगों में संलग्न है।

२. पशुपालन और कृषि वैदिक काल का प्रमुख व्यवसाय रहा है। पशुओं में गौ का सर्वोच्च

---

१. उद्धृत भारतीय ज्यो० (ऋ०सं० १.३५.६)
२. द्रष्टव्य वैदिक सम्पत्ति पृ० २९०
३. उपनिषद् कालीन संस्कृति पृ० १९१

स्थान रहा है। गौ शब्द पृथ्वी का पर्याय भी रहा है। जब-जब पृथ्वी पर संकट आया है पृथ्वी ने गौ का ही रूप धारण किया। गौ सम्पत्ति की सूचक भी रही है। किसी भी व्यक्ति की भौतिक सम्पत्ति का अनुमान उसके पास गौओं की संख्या से ही लगाया जाता रहा है। वैदिक साहित्य के अनुसार गौओं की सृष्टि नहीं थी, इनकी आवश्यकता अनुभव कर अंगिरा ऋषि ने तपस्या कर गौओं को प्राप्त किया। गौओं के दुग्ध एवं घृत आदि से यज्ञों की हवि तैयार की जाती थी। इसलिए गौओं का विशेष वर्णन मिलता है। **गौओं का वर्गीकरण**[१] - रंगों के अनुसार गौओं को चार वर्गों में विभक्त किया गया है। १. **रोहित** (लाल वर्ण की गाय), २. **शुक्र** (श्वेत वर्ण की गाय), ३. **पृश्नि** (चित्रित या चितकबरी), ४. **कृष्ण** (काली गाय)। इसके अतिरिक्त इनकी अवस्थाओं के अनुसार भी इनका वर्गीकरण किया है।

श्वेत वर्ण की स्वस्थ गाय को **कर्कि**, गर्भिणी गाय को **गृष्टि**, दूध देने वाल गाय को **धेनु**, बन्ध्या को **स्तरी**, या **धेनुष्टरी**, काकबन्ध्या (जो केवल एक बार बच्चा दे।) को **सूतवत्सा**, जिसका गर्भपात हो जाता हो उसे **बेहत्**, जिसका बछड़ा मर गया हो तथा बछड़े के अभाव में दूध न देती हो किन्तु कृत्रिम बछड़े को भी देखकर दूध दे देती हो उसे **वान्या** या **निवान्या** कहा जाता था। बछड़े एवं बछड़ियों की संज्ञा उनकी आयु के आधार पर होती थी। यथा[२]-

आयु	बछड़ी	बछड़ा
दुधमुहाँ बच्चा	धरण	धरण
१.५ वर्ष	त्र्यवि	त्रैवि
२ वर्ष	दित्यौही	दित्यवाह
२.५ वर्ष	पंचावी	पंचावी
३ वर्ष	त्रिवत्सा	त्रिवत्स
३.५ वर्ष	तुर्यौही	तूर्यवाह
४ वर्ष	प्रष्ठौही	प्रष्ठवाह

---

१. संस्कृत वाङ्मय का वृहद् इतिहास, वेद खण्ड पृ० ५९४-९५

२. वही पृ० ५९३

युवा बैल	----	ऋषभ, वृष
गाड़ी खींचने वाला बैल	----	अनड्वान्
बधिया बैल	----	महानिरष्ट

गायों का दोहन दिन में तीन बार किया जाता था। प्रात: कालीन दोहन को प्रार्दोह मध्याह्न कालीन दोहन को संगव दोह तथा सायंकालीन दोहन को सायं दोह कहा जाता था। यहाँ संगव दोह संदेह उत्पन्न कर रहा है। क्योंकि संगव और मध्याह्न दोनों भिन्न-भिन्न काल हैं। अत: सम्भव है संगव दोहन मध्याह्न से पूर्व संगव काल में ही होता रहा हो। कुछ विद्वानों ने संगवदोह के स्थान "सद्भव दोह" का प्रयोग कर संदेह निवारण किया है।

गाय का दूध ही नहीं अपितु गाय से प्राप्त सभी वस्तुएँ गव्य कही जाती है। गव्य पाँच प्रकार के होते हैं। **१. दूध, २. दधि, ३. घृत, ४. गोमूत्र, ५. गोमय।** ये सभी यज्ञीय पदार्थ हैं तथा अति पवित्र हैं। इनके मिश्रण को पंचगव्य कहा गया है। इनकी पवित्रता बनाये रखने हेतु इसमें कुशोदक का भी मिश्रण करना चाहिए। पंचगव्य में सभी पदार्थों की मात्रा भी सुनिश्चित की गई है जो इस प्रकार हैं–

गोमूत्र	१ पल
गोमय	अंगुष्ठ की मोटाई का आधा
दूध	७ पल
दधि	३ पल
घृत	१ पल
कुशोदक	१ पल

पंचगव्य से भूमि एवं शरीर दोनों का शोधन किया जाता है। देव पूजन में पंचामृत का प्रयोग होता है। यह भी अत्यन्त पवित्र एवं शरीर शोधक माना जाता है। यह गोदुग्ध, दधि, घृत, मधु और शर्करा के मिश्रण से तैयार किया जाता है। गो सम्बन्धी यज्ञी महत्ता के अतिरिक्त इसकी व्यावहारिक एवं व्यावसायिक व्यवस्था भी उल्लेखनीय है।

गौओं के दिन में तीन बार दोहन[1] से यह तो स्पष्ट है कि दुग्धोत्पादन पर विशेष ध्यान दिया जाता था। गौओं की दुग्धोत्पादन क्षमता भी अधिक थी। इसलिए विविध दुग्धोत्पादों एवं उनके विपणन के प्रति जागरूकता भी स्वाभाविक है। दुग्धोत्पादों में प्रमुख रूप से दूध, दधि, मस्तु, आतन्चन, नवनीत, घृत, आमीक्षा तथा वाजिन्, व्यावहारिक भाषा में दधि, घृत, तक्र, पनीर तथा नवनीत के उत्पादन एवं विपणन की चर्चा है। इन दुग्धोत्पादों में तक्र के कई भेद बताये गये हैं जिनका आयुर्वेद की दृष्टि से बहुत अधिक महत्त्व है। तक्र मूलतः दो प्रकार के होते हैं–१. घृतयुक्त, २. घृत रहित। घृतयुक्त के तीन भेद हैं–१. समुद्धृतघृत (जिससे घी निकाल लिया गया हो), २. अर्द्धोद्घृत (जिससे आधा घी निकाला गया आधा तक्र में हो), ३. अनुद्धृत घृत (जिससे घृत न निकाला गया हो।) इसी प्रकार घृत रहित तक्र के पाँच भेद होते हैं– **१. घोल**–जिसमें जल की मात्रा न हो, अर्थात् जल रहित घोल, **२. मथित**–जल रहित मथित दधि का घोल, **३. तक्र**–दधि की मात्रा चौथाई भाग जल युक्त, **४. उदस्वित**–आधा जल आधा दधि, **५. छच्छिका**–सर हीन अर्थात् केवल दधि का जल, जिसमें दधि की अपेक्षा जल अधिक हो। इसी प्रकार नवनीत भी दो प्रकार होते हैं। १. दधि से उत्पन्न, २. दूध से उत्पन्न। इनके गुण धर्म का भी विवचेन आयुर्वेद में विशेष रूप से किया गया है।

इनके उत्पादन के साथ-साथ विपणन का भी उल्लेख है। इनके विपणन में माप तौल के राजकीय मानकों के अनुपालन में शिथिलता बरतने पर कठोर दण्ड का भी विधान था। गौओं के साथ-साथ अजा, अश्व, अवि और हस्ती आदि पशुओं के पालन का उल्लेख है। इनके अतिरिक्त जंगलों से मधु आहरण, मत्स्यपालन आदि व्यावसायिक कार्यों को भी राजकीय मान्यता प्राप्त थी।

३. कृषि–"अथोऽन्नेनैव जीवन्ति" इस उपनिषद वाक्य से ही कृषि के महत्त्व का अनुमान हो जाता है। महर्षि पराशर ने भी कृषि के महत्त्व को बतलाते हुए कहा है कि कानों में, कण्ठ में तथा हाथों में यदि स्वर्णाभूषण भरे पड़े हो तो भी अन्न के अभाव में उपवास ही करना पड़ेगा। अतः कृषि को किसी के ऊपर न छोड़कर स्वयमेव कृषि हेतु जाना चाहिए। कहा भी है–

> **पितुरन्तःपुरं दद्यात् मातुर्दद्यान्महानसम्।**
> **गोषु चात्समं दद्यात् स्वयमेव कृषिं ब्रजेत्।।**[2]

---

१. शार्ङ्गधर संहिता
२. कृषिपाराशर १.५ एवं ३.२

वैदिक काल में कृषि हेतु ऋतुओं का तथा वर्षा का पूर्वानुमान करने की प्रथा रही है। ऋतुओं के अप्रसन्न होने से कृषि का नाश तथा प्रसन्न होने से कृषि की वृद्धि होती है। छान्दोग्य उपनिषद में छः ऋतुओं की संज्ञा उनके विशेष गुणों के आधार पर की गई है। यथा–वसन्त को हंकार, ग्रीष्म को प्रस्ताव, वर्षा को उद्गीथ, शरद् को प्रतिहार, हेमन्त और शिशिर को निधन संज्ञा दी गई है। वृष्टिज्ञान के प्रसंग में वर्षा और ऋतुओं का समावेश स्वयमेव हो जाता है। उपनिषदों में कथाओं के माध्यम से अधिक से अधिक अन्न उपजाने की प्रेरणा दी गई है।

४. शिल्प एवं व्यवसाय[१]–मिट्टी के खिलौनें, मिट्टी के वर्तन, लोहे के उपकरण, आविक (ऊनी) वस्त्र, सुवसन आदि विविध वस्त्रनिर्माण, स्वर्णाभूषण, रथ, शकट आदि वाहनों के निर्माण आदि कार्यों के पर्याप्त उल्लेख मिलते हैं। इसी क्रम में लोहे के प्रति चुम्बक के सहज आकर्षण को दर्शाया गया है, परन्तु इस आकर्षण का कारण नहीं कहा गया। सीधे शब्दों में कह दिया गया है कि–"चुम्बक की ओर लोहे के दौड़ने का कारण अदृष्ट है।[२]"

५. स्थापत्य और वास्तु[३]–उपनिषद काल तक गृह, नगर, दुर्ग तथा सेतु निर्माण आरम्भ हो चुके थे। नवद्वार वाले पुर, महाशाल (विस्तृत भवन), आयसी पुर, लोहे के दुर्ग अथवा लोहे के समान सुदृढ़ दुर्गों के उल्लेख इस बात का संकेत देते हैं कि तब तक वास्तु एवं स्थापत्य का भी विकास प्रारम्भ हो गया था। गृह के अन्दर अन्तःसज्जा के क्रम में अनेक पुतलियों एवं यन्त्रों के निर्माण का भी विधान दिया गया है। समरांगण सूत्रधार में यन्त्र से उड़ने वाले पक्षियों, यन्त्र निर्मित द्वारपाल आदि की भी चर्चा है। भवन निर्माण के उपकरणों के सन्दर्भ में इष्टिका निर्माण की पद्धति का उल्लेख आवश्यक हो जाता है। यज्ञ की वेदी में प्रयुक्त होने वाली विभिन्न आकृतियों एवं विभिन्न आकार वाली ईंटों का निर्माण तथा उनकी गणना पद्धति गणितीय एवं शिल्पीय दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।[४] वेद तथा वैदिक साहित्य ज्ञानराशि से परिपूर्ण हैं। आवश्यकता है गहन परिशीलन एवं अनुसन्धान की। वैदिक समृद्धि का केवल गुणगान न कर यदि हम उनमें निहित ज्ञान राशि का प्रकाशन करें तो हमारी वेदों के प्रति श्रद्धा सार्थक होगी।

---

१. उपनिषद् कालीन सं० पृ० ३९७
२. द्र० वैदिक सम्पत्ति
३. उपनिषद् कालीन संस्कृति
४. इयं मे अग्न इष्टिका धेनवः सन्त्वेका च दशच शतं च .....परार्धश्चेता मेऽग्नइष्टका धेनवः। यजु० वाज० सं० १७.२

भारतीय वास्तुशास्त्र-एक चिन्तन•

प्रो० रमेशचन्द्र शर्मा

भारतीय वास्तु के प्रधान तत्त्व

यह अध्यात्म एवं प्रतीकात्मकता, वास्तु पुरुष एवं विश्वकर्मा दर्शन प्रधान, शिक्षा, जीवनमूल्य, मनोरंजन को देने वाला, आख्यान व कथानको का सागर, अलंकरण व शोभा पट्टियों से सुशोभित, मनुष्य, पशु व पक्षियों को आरामदेय विन्यास, सर्वोपरि दैवीतत्त्व, धार्मिक भवन, अधिक दृढ़ निर्माण परिकल्पना से परिपुष्ट है।

भारतीय वास्तु के उद्देश्य

क. भवन निर्माण – धार्मिक, आवासीय, सैन्य

ख. नगर विन्यास – उद्यान, आपण, राजमार्ग, सड़कें, रथ्या, विथि, सेतु, गोपुर, परिखा, नाली, परकोटा, बांध, प्रकाश आदि

ग. स्थल – स्थल चुनाव, मृत्तिका परीक्षण, प्रायोजन, प्रकल्पन, ज्योतिष विचार आदि

घ. बाह्य शोभा – शिल्प विधान आदि

च. अन्तः सज्जा – काष्ठ कर्म व शिल्प विधान आदि

छ. संस्मरणीयता Monumentality

विभिन्न पाश्चात्य वास्तुओं के लक्ष्य

यूनानी – सुन्दर संरचना Refined Perfection

रोमन – वैज्ञानिक निर्माण Scientific Construction

इटेलियन – विद्वत्ता की छाप Scholarship of the Age

फ्रांसीसी – अभिव्यक्ति की ललक Passionate Energy (Gothic)

कुछ रोमांचक तथ्य

अति प्राचीन काल में आरम्भ, अशोक के समय का ओप (polish) एवं यातायात उत्कृष्ट गुहा लक्षणों का प्राप्त होना।

विकास की धारा

शैलाश्रय, वृक्षाश्रय, आश्रम के निमित्त काष्ठ व पत्तियों का प्रयोग, मिट्टी का प्रयोग, ईंटों का प्रयोग, प्रस्तर का प्रयोग, जुड़ाई का सामान, सीमेन्ट, आर. सी. सी., फाइबर ग्लास आदि का प्रयोग मिलता है। भारतीय वास्तु पारिभाषिक शब्दों का एक विशाल भण्डार है। इस शास्त्र की विपुलता नगर, ग्राम, प्रासाद एवं भवन विन्यास से पूर्ण परिलक्षित होती है। तत्कालीन शिल्पियों स्थपतियों का नामोल्लेख भी उपलब्ध होता है। धम्मपद में महागोविन्द स्थपति पाँचवीं शती ई० पू० में अनेक नगरों के प्रकल्पक कहे गये हैं।

ईसा पूर्व भारत में वास्तु का स्वरूप–

भारत की दो प्राचीनतम संस्कृतियों का स्वरूप यहां दिखाया जा रहा है। जिसके अध्ययन से ज्ञात होता है कि दोनों संस्कृतियों में कितना प्रारम्भिक अन्तर था परन्तु सामान्य दृष्टि से एक ही रूप को कुछ इतिहासकारों की तरफ से दिखाया जाता है। जब कि दोनों में बहुत अन्तर दृष्टिगोचर होता है। काल विभाजन के क्रम में इन दोनों संस्कृतियों को पुरा एवं प्राक् काल के रूप में दिखाया गया है। इस प्रकार इन दोनों संस्कृतियों के मौलिक भेद समझ में आते हैं। यथा–

वैदिक (पुरा Pre)	सैन्धव (प्राक् Proto)
वन्य	नगरीय
आरण्यक/आश्रमीय	नगर व्यवस्था
पशुपालन	कृषि व व्यापार
अस्थायी	दृढ़ व ठोस
काष्ठ व वंश कच्ची ईंटे	पकी ईंटे
प्रस्तर का प्रयोग नहीं	प्रस्तर का भी प्रयोग
धातु आकृतियों के कुछ संकेत	धातु आकृतियां, उपकरण प्राप्त

खुली (open)	बन्द (closed)
व्याप्त, सचल	कुछ केन्द्रों तक सीमित
सादा किन्तु व्यावहारिक	विलासी और विकसित
सुरक्षा व प्रहार में सतर्क	रक्षा व प्रहार की उपेक्षा
योद्धा व कर्मठ	शान्ति प्रिय व भोगवादी
वास्तु में भरपूर अलंकरण	सौन्दर्य व अलंकरण उपेक्षित
स्तम्भ प्रधान	मोटी चौड़ी दीवालें
दर्शन, अध्यात्म, विज्ञान से भरपूर	अभी अस्पष्ट
लिपि की उपेक्षा किन्तु श्रुति	लिपि प्रधान किन्तु सम्प्रति अपठित
अवशेष अप्राप्त	अवशेष प्राप्त
आदि काल से अबतक तारतम्य	संस्कृति लुप्त
भारतीय सभ्यता के विकास का आधार	स्वयं ही समाप्त अतः आधार हीन

वैदिक वास्तु का दिग्दर्शन

वैदिक संहिताओं में वास्तुशास्त्र की प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है[१]। जैसे– धार्मिक या कर्मकाण्डीय वास्तु का प्रयोग यज्ञवेदियों में दृष्टिगोचर होना। इष्टिकाओं के अनेक नाम, प्रकार, प्रयोग एवं माप का मिलना। जनोपयोगी (secular) वास्तु में प्रासाद, राजप्रासाद, गृह आदि का विस्तृत वर्णन मिलना। पशुओं के उपयोग के लिए शालाएं या सदनों के प्रयोग का मिलना आदि।

वैदिक घरों के नाम

निरुक्त[२] में २२ प्रकार के घरों के नाम मिलते हैं। यथा– दम, गृह, गय, पस्त्या, सदन, सद्म, दुरोण, हर्म्य, शाल, अगार, आयतन, आवस्थ, वरूथ, संवरण, निवेशन, शर्मन्, कृदरः, गर्तः, कृत्तिः, योनिः, छाया आदि। सभी का स्पष्टीकरण संभव नहीं है तथापि कुछ शब्दों को स्पष्ट कर रहा हूँ। यथा– गय का अभिप्राय पूरे गृहस्थ के आवास योग्य स्थान से था।[३] **आवस्थ – अतिथि कक्ष**

---

१. ऋ० VII.55, अथ० III.12, IX.3

२. निघण्टु III.4

३. ऋ० I.742,V.103,V.44.7 अथ० II.6.3, VI.84.1

कहलाता था।[१] राजप्रासाद – विशाल भवन को कहते थे।[२] **सदन** – भवन जो निश्चय ही सामान्य गृह से बड़ा घर होता था।[३] सदन को ही आसन भी कहा जाता था।[४]

वैदिक घर के भाग

द्वार – आवागमन का मुख्य मार्ग, **सदस्** – आस्थान मण्डप की भांति पुरुषों की बैठक स्थान, **पत्नीसदन** – अन्तः पुर की भांति महिला कक्ष, **कोष्ठ/धरुणी/हविर्धान** – भण्डार गृह, **अग्निशाला** – यज्ञगृह, यज्ञमण्डप, **पशुशाला** – अश्वमती गोमती शाला[५], 'गोभ्यो अश्वेभ्यो नमो यच्छालायां विजयते',[६] **कोषे कोषाः समुब्जिताः**[७]– बहुमंजली, त्रिवरुथग[८], त्रिभुजशयान[९] त्रिधातु शर्मन्।[१०] त्रिधातुशरण[११]– संभवतः शीत, ग्रीष्म, वर्षा से सुरक्षित,[१२] **विशाल भवनों के नाम**– छर्दि, बर्ति, ओकस्, धामन, हर्म्य, शाला, शर्मन्, शरण वरूथ, क्षय उपलब्ध होते हैं। एक स्थान पर वरुण का भवन सहस्त्र स्तंभो का था एसा वर्णन मिलता है। यथा **सहस्त्र स्थूणा सदस्**[१३] **सभागार**– अधिक स्तम्भो/ द्वारों के विशाल भवन, देवताओं, बड़े राजाओं का सभा भवन। **'राजानो ध्रुवे सदस्युत्तमे सहस्त्र स्थूण आसाते'**।[१४] मुख्य द्वार का नाम 'प्रथम द्वार' कालान्तर में द्वार कोष्ठ हुआ। अनेक दीवालों (पक्षा) के मकान बनते थे जैसे–'द्विपक्षा, चतुष्पक्षा, षट्पक्षा, अष्टपक्षा, दशपक्षा' आदि।[१५] आज की बोली पक्षा को पक्खा भी कहते हैं। **कुलाय** – कमरा बड़े कक्ष को कुलाय कभी एक बड़े कक्ष में छोटे कमरे **'कुलाये अधिकुलायाम्'** भी होते थे।

---

१. छा० उप० IV.1.1
२. बृ० उप० IV.3.37
३. वा० स० १२.७९
४. अथ. VII.99.1, तै० सं० IV.3.1.1
५. अथ० III.12.2
६. अथ० IX.3.13
७. अथ० II.3.20
८. ऋ० VIII.20-21
९. अथ० VIII.9.2
१०. ऋ० VIII.40.12.
११. अथ० XX.83.1
१२. Dr.P. Ghosal, Lifestyle of the Vedic People, 2006, p.60.
१३. ऋ० II.41.5
१४. ऋ० II.41.5
१५. अथ० IX.3.21

सौन्दर्य पक्ष – सुन्दर रचना, अलंकरण, प्रतीक विधान नववधू से तुलना **'वधूमिव ते शाले'**[१] शाला हर्ष व उत्फुल्लता की प्रतीक अतः सुविधा के लिए बनायी जाती थी। शोभा की सभी वस्तुएं उपलब्ध होती थी। **पूर्णं नारी प्रभर कुम्भमेतम् घृतस्य धाराममृतेन सम्भृताम्..........................** **...गृहानुप प्रसीदाभ्यमृतेन सहाग्निना।**[२]

निर्माण – छोटे बड़े भवनों का निर्माण लकड़ी व बांस से होता था। **जिसका प्रमाण इसप्रकार** मिलता है। यथा– वंश (बांस), स्थूण (स्तम्भ), उपमित (स्तम्भ), परिमित (क्रास बीम), प्रतिमित (बीम), प्राचीन *वंश शाला* के जाल (फ्रेम) एवं मध्य में स्थूणराज (सिरदल) का परिचायक होता था। यथा–

उपमितं प्रतिमितभथो परिमितामुत।
शालया विश्ववारया नद्धानि विचित्रामसि।।[३]

शतपथ में मानवोपयोगी सदन में सिरदल दक्षिण से उत्तर होता था। **तस्मान्मनुष्या उदीचीनवंशमेव शालां वा विमितं वा।**[४] छत, छदिस्[५] फूस-विषुवन्त[६] बांसों का ढांचा बिछावन **वंशानां नहानानाम्**[७] बांसो को जकड़ कर बांधना, अक्षु[८]-छाजन-**ग्रन्थींश्चकर ते दृढान्**[९] अलंकृत घर चित्रित हस्तिनी की भांति, संभवतः गजपृष्ठाकार छत **'हस्तिनी पद्वती मितां पृथिव्यां तिष्ठति'**[१०] कभी कभी अलंकार व दृढ़ता के लिए धातु चादर प्रयोग के संकेत, मिलते हैं। **हिरण्य रूप** – सोने की जड़ाई, **अपस्थूण**[११]– सज्जा।

छतों के भेद–

इस सन्दर्भ में पलद, तृण, मुंज, शर, कुशा, वीरण आदि भेद मिलते हैं। **अक्ष** = धमारा **'ओपशं**

---

१. अथ० IX.3.24
२. अथ० III. 20.8-9
३. अथ० III.5.1.1
४. श० III.1.17
५. ऋ० X.85.10, अथ० III.12.3
६. अथ० IX.3.8
७. अ० IX.3.4
८. ऋ० I.108.5, अथ० VIII.8.18
९. अथ० IX.3.3
१०. अथ० IX.3.24
११. ऋ० V.62.8

वितत्तं सहस्राक्षं विषुपति[१]' उदर = मध्य भाग आंगन, प्रतीची = पृष्ठ भाग, गृह समुह की छोटी इकाई ग्राम, बड़ी ईकाई पुर/नगर, निर्माता (architect) वास्तोस्पति[२]।

सिन्धु सभ्यता का वास्तु–

हड़प्पा सभ्यता की खोज १९२१ में दयाराम साहनी द्वारा की गयी। तथा मोहेनजोदड़ो की खोज १९२२ में राखालदास बनर्जी द्वारा हुईं। बलूचिस्तान में १९२७–३१ में आर्ल स्टाइन व ननीगोपाल मजुमदार को सिन्धु सभ्यता के अवशेष मिले। भारत में १९४७ के बाद लोथल (गुजरात), रोपड़ (पंजाब), कालीबंगा (राजस्थान), आलमगीरपुर (उ० प्र०) में भी इस सभ्यता के बहुत उल्लेख उपलब्ध हुए।

विस्तार

इस सभ्यता का निरन्तर पश्चिम से पूर्व १६०० किमी०, उत्तर से दक्षिण ११०० किमी० तक का विस्तार मिलता है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार मिलता है। सुत्कगेन–डोर (बलूचिस्तान) से आलमगीरपुर (मेरठ) – १६०० किमी०। सराइखोला (पश्चिमी पंजाब) से भगत्राव (गुजरात) – ११०० किमी०।

समय

मेहरगढ़ (पाकिस्तान) के अवशेषों के आधार पर ल० ५००० ई० पू० तथा मुख्य केन्द्र हड़प्पा – मोहेनजोदड़ो के आधार पर ल० २७०० ई० पू० से १६०० ई० पू० तक का काल इस सभ्यता का सिद्ध होता है।

नगर विन्यास –

इस सभ्यता के मुख्य केन्द्र उच्च नगरीय सभ्यता के साक्षी हैं। अवशेषों की लंगाशायर नगर वास्तु की आक्सफोर्ड सर्कस के वास्तु से तुलना की जा सकती है।

विशेषताएं –

इस सभ्यता की एक सुनियोजित नगर व्यवस्था थी। तथा, मानचित्र (नकशा) बनाकर नगर प्रकल्प तैयार किया जाता था। सड़कें समकोण पर सीधी कटतीं थी। नगरों का आयताकार खण्डों

---

१. अथ० IX.3.8

२. ऋ० VII.55

(sectors) में विभाजन होता था। मोहोनजोदड़ो की मुख्य सड़क (राजमार्ग) १० मी० से अधिक चौड़ी होने के उल्लेख मिलते हैं। सामानान्तर यातायात की संभावना परिलक्षित होती है। सड़क व मकानों के निर्माण में आर-पार वायु संचरण (cross ventilation) का ध्यान भी रखा जाता था। सड़के कच्ची अधिकतर मिलती हैं। केवल लोथल में पक्की सड़क का प्रयोग मिलता है। धूल में छिड़काव करने का प्रावधान भी था। इसके भी पर्याप्त उल्लेख उपलब्ध होते हैं। थोड़ी-२ दूरी पर सड़क के किनारे प्रकाश हेतु स्तम्भ भी दिये गये हैं।

नालियां –

इस सभ्यता में सफाई पर विशेष ध्यान दिया जाता था जिसमें व्यक्तियों की एक समुचित व्यवस्था मिलती है जो इस प्रकार है– सफाई के लिए छोटी बड़ी गहरी नालियां। बड़ी नाली आधे मीटर से अधिक गहरी। बड़ी नाली पत्थर से व छोटी ईटों से ढकी। कमरों, रसोई, शौचालय की छोटी नालियां बड़ी नाली में मिलती। घरों की बड़ी नाली सार्वजनिक बड़ी नाली में मिलती हैं। ऊंची जगह से आकर बड़ी नाली में गिरने पर ईंटों का गड्ढा हैं। कोंण पर मिलनेवाली में गोलाई का पक्का मोड़ है। कहीं पकी मिट्टी के पाइपनुमा नालियां मिलती हैं तो कहीं पर नाले पानी गिराने की दृष्टि से बनाये गये हैं। कहीं पेड़ के तने को खोखला कर पाइप का प्रयोग मिलता है। नालियों में ईंटों की जुड़ाई मिट्टी से हुई पर कहीं जिप्सम व चूने का प्रयोग भी मिलता है। नालियों ढकने में मेहराब का भी प्रयोग मिलता है। बीच-बीच में गड्ढे, कूड़ा करकट की सफाई के लिए स्थान उपलब्ध होता है। कहीं-कहीं नालियां सार्वजनिक बड़ी नाली में न मिलाकर सोकपिट में मिलाने की व्यवस्था की गयी है। नाली में वेग से आते पानी को ढाल पर रोकने के लिए सीढ़ियों का प्रयोग ताकि पथिकों पर छींटे न पड़े। निर्माण और पुनर्निर्माण में नालियां ऊंची हुई हैं ऐसा भी प्रमाण मिलता है।

कुँए –

कुँए सार्वजनिक न होकर व्यक्तिगत होने के प्रमाण मिलते हैं इसलिए वे पहुंच मार्ग पर नहीं हैं। जनसंख्या वृद्धि पर उनका सार्वजनिक प्रयोग मिलता है क्योंकि नए कुँओं के निर्माण के साक्ष्य नहीं हैं। कुँओं के आसपास पक्की ईंटों का फर्श व घड़े रखने के लिए छोटे गड्ढे। बैठने के लिए ऊंची चौकी। कुँओं का व्यास एक मीटर से सवा दो मीटर तक उपलब्ध होता है।

ईंटें –

प्रायः आजकल के माप के तुल्य की ही ईंटें ही सिन्धु सभ्यता के काल की भी मिली हैं जैसे– सबसे बड़ी ईंट – ५१.४३ × २६.२७ × ६.३५ से.मी., अन्य – ३६.८३ × १८.४१ × १०.१६

से.मी., सबसे छोटी – २४.१३ × ११.०५ × ५.०८ से.मी., सामान्य व्यवहार की – २७.९४ × १३.९७ × ६.३५ से.मी., कोनों, कुँओं आदि के लिए मुड़ी हुई (L shaped) ईंटों का प्रयोग दिखाई देता है। मेहराब बनाने के लिए फन्नीदार ईंटों का तथा नींव की भराई आदि में ईंट के टुकड़ो का प्रयोग मिलता है जैसे– मोहनजोदड़ो में ईंटों से बनी टोडा महराब। कहीं-कहीं ईंटों को आरे से काट या घिसकर लगाया गया है। जैसे– स्नानागार शौचालय आदि में। छोटे-छोटे घरों तथा श्रमिक बस्ती का भी उल्लेख मिलता है।

स्नानागार –

विशाल सार्वजनिक स्नानागार, मोहेनजोदड़ो का – ५४.८६ × ३२ × ९१ मीटर, प्रांगण में तालाब – ११.८९ × ७.०१, गहराई २.४४ मीटर का, चारों ओर ऊंचा प्लेटफार्म, तालाब में जाने के लिए सीड़ियां। अन्तिम सीढ़ी के साथ स्नानार्थ तैरनें एवं जानने वालों के लिए एक चबूतरा भी मिलता है। साथ ही और भी स्नानागार से सम्बन्धित व्यवस्थाओं का उल्लेख मिलता है। जैसे– फर्श समतल नहीं ढलवा, जुड़ाई जिप्सम से, पानी निकालने के लिए नाली, तालाब के तीन ओर बरामदे, गैलरी, कमरे, व कुँवें (जल स्रोत), पास में बहुत कोयला व राख से पानी को गरम करने का अनुमान, स्नानागार के उत्तर में आठ स्नान, कक्ष, गोपनीयता की दृष्टि इनके द्वार आमने सामने नहीं आदि।

अन्नागार –

हड़प्पा का विशाल अन्न भण्डार १५०' × ७५' पक्का २७ इकाई ऊपर छाजन, कूटने व गेहूँ आदि निकालने की व्यवस्था, नगर की समस्त अन्न व्यवस्था का उल्लेख भी मिलता है।

नगर निगम –

समतल विन्यास, सड़कों, नालियों सार्वजनिक स्नानागारों, अन्नागारों, प्रकाश व्यवस्था एवं विकसित नागरिक जीवन से नगर निगम का अनुमान भी होता है। परन्तु इस सभ्यता का कालान्तर में ह्रास हुआ।

रामायण व महाभारत कालीन समृद्ध वास्तु

नगर निवेश, दुर्ग, प्राकार, प्रासाद, आपण, देवालय, बहुमंजली भवन, सभाभवन आदि इस काल के समृद्ध वास्तु के उदाहरण हैं। इनमें भी विशेष उल्लेखनीय – रावण का पुष्पक विमान एवं युधिष्ठर सभा भवन है। वास्तु के अतिरिक्त अन्तः सज्जा, चमकदार पालिश, उत्कीर्णन, अलंकरण, प्रतीक, शोभा पट्टियां, छत की सज्जा आदि के उपलब्ध होने का वर्णन मिलता है। वास्तु का मुख्य

आधार काष्ठ होता था। काष्ट के कारण अवशेषों का अभाव, काल निर्धारण प्रायः अनिश्चित ही हैं। जनपद युगीन वास्तु के अवशेष राजगृह से उपलब्ध होते हैं। महाभारत से सम्बन्धित वास्तु का वर्णन इस प्रकार मिलता है– गिरिव्रज (राजगृह) वृहद्रथ वंश में जरासन्ध का पांच पहाड़ियों में आबद्ध होना तथा वैभार गिरि, विपुल गिरि, रत्नगिरि, उदयगिरि, सोमगिरि आदि का महाभारत के सभा पर्व (१९.२) में वर्णन मिलता है। पांचो को घेरता पाषाण प्राकार आज भी द्रष्टव्य है किसी गारे (जोड़ने के लिए) का प्रयोग नहीं मिलता है इसकी ऊंचाई ११ से १२ फिट, चौड़ाई १३ से १७.५ फिट। साथ ही अट्टालक व गोपुरम् के अवशेष भी उपलब्ध होते हैं। बीच में नगर मगधपुर (महाभारत में उल्लेख) लगभग ८ किमी० परिधि वाला था। कृष्ण, भीम व अर्जुन का आकाश मार्ग से प्रवेश करना आदि समृद्ध वास्तु के उल्लेख मिलते हैं।

इस काल के पश्चात् के काव्य ग्रन्थों में भी समृद्ध वास्तु शास्त्र के उल्लेख उपलब्ध होते हैं जैसे–पाषाण प्राकार के बाहर बिम्बसार का नया राजगृह २००० × १५००, वैभार पहाड़ी पर *सप्तपर्णी गुहा, पिप्पल गुहा, सोनभण्डार गुहा*, सप्तपर्णी में सात कक्ष, विपुल पर्वत पर स्तूप के अवशेष, गिरियेक (राजगृह के पूर्व) भी पाषाण से घिरा वहां इन्द्रशाल गुहा और जरासन्ध की बैठक मानी जाती थी।

लौरियानन्दन गढ़

बेतिया से २२ किमी० उत्तर पश्चिम, कई टीले १५०० से ६०० ई० पू०, चक्रवर्ती राजा उत्तान पाद का स्तूप (श्मशान चैत्य), 'चैत्य यूप इवोच्छ्रितः' (म० भा० सभा० २२.२०), दो टीले बहुत कठोर मिट्टी के *स्थूण*, पृथिवी स्तम्भन (ऋ० X.18.13), यहां मातृदेवियों की स्वर्ण आकृतियां मिली, एक भारत कला भवन में तथा दूसरी लखनऊ संग्रहालय में आज भी है।

पाणिनि के सन्दर्भ

प्रमुख नगरों का अष्टाध्यायी में उल्लेख मिलता है। जैसे कापिशी, तक्षशिला, शाकल, हस्तिनापुर, शांकाश्य, काशी आदि। नगर के मुख्य भाग – परिखा, प्राकार, द्वार (V.1.18-18) माने जाते थे। कात्यायन के वार्तिक में प्रासाद व प्राकार (VI.3.132) का उल्लेख मिलता है। देवपथ (V.3.100) विशिष्ट मार्ग? राजमार्ग? स्तूप की ऊपरी वेदिका? अभिनिष्क्रामति द्वारम् (IV.3.86) नागर विशिष्ट को अभिमुख द्वार **'माथुरं कान्य कुब्जद्वारम्'** तद्गच्छति पथि दूतयोः (द्य/३/८५)

भवनों के प्रकार[1] –

राज सभा (II.4.23), गेह, गृह, (III.1.144), निवास, निकाय (III.1.126), छात्रीशाला (VI,2,86), अगार (IV.4.70), निषद्या (विश्राम गृह III.3.99), परिखा (V.1.17), कपाट (III.2.54), परिघ (कुन्डा VIII.2.22), छादिस् (V.1.13 छत), आपण (III.3.117), क्षय (VI.1.201 आवास), आवस्थ (V.4.23 अतिथिगृह)

मौर्ययुगीय वास्तु (चौथी – तीसरी शती ई. पू.) –

कौटिल्य के आर्यशात्र में जनपद निवेश के सन्दर्भ में इस प्रकार वर्णन मिलता है जहाँ स्पष्ट किया गया है कि– **ग्राम** – सौ से पांच सौ परिवार का तथा एक से दो क्रोश क्षेत्रफल का होता है। **संग्रहण** – दस ग्राम, **खार्वटिक** – सौ ग्राम, **जनपद** – आठ सौ ग्राम, जनपद का मुख्य स्थल पुर (राजधानी) होता था। पुर के चारों ओर प्राचीर, बारह द्वार, **'त्रयः प्राचीना राजमार्गास्त्रय उदीचीना इति वास्तु विभागः स द्वादश द्वारो युक्तोदक भूमिच्छन्न पथः' (II.3)**, स्थल व चल मार्ग, तीन राजमार्ग पूर्व से पश्चिम, तीन उत्तर से दक्षिण होते थे। १/९ भाग पर अन्तःपुर जो पुर के उत्तरी भाग में पूर्वोत्तर में आचार्य, पुरोहित, मंत्रियों का आवास होता था। दक्षिण पूर्व में हस्तिशाला कोष्ठागार, उससे आगे पूर्व में गन्ध, माल्य, धान्य, रस आदि की पण्यशाला, क्षत्रियों व प्रधान शिल्पियों के आवास, दक्षिण पूर्व में, कुप्य गृह, आयुधागार, मध्य में अपराजित, अप्रतिहत, वैजयन्त के कोष्ठक, शिव, वैश्रवण, श्री, मदिरा के गृह व प्रति दस परिवारों के लिए एक कुँआ होता था।

पुर, नगर एवं दुर्ग के रूप

मौर्य कालीन पुर, नगर एवं दुर्गों के रूपों के सन्दर्भ में तत्कालीन कौटिल्य के अर्थशास्त्र एवं तत्कालीन अन्य काव्यग्रन्थों में इस प्रकार का वर्णन उपलब्ध होता है जैसे– तीन परिखाएं क्रमशः १४, १२, १० दण्ड चौड़ी एक दण्ड छोड़कर (एक दण्ड =६ फिट), गहराई चौड़ाई से तीन चौथाई या आधी। खाइयों की दीवारें प्रस्तर या पकी ईंटों की। खाइयों में जल निरन्तर, अतः जलस्त्रोत। सबसे भीतर की खाई पर ३६' ऊंची ७२' चौड़ी। **वप्र** – कटीली व विषैली लताओं से भरी खाई। उस पर अट्टालिकाएं धनुर्धरों के लिए इन्द्र कोष (छद्म कोष्ठ) होते थे।

मेगस्थनीज द्वारा वर्णित

पाटलिपुत्र का वर्णन लगभग लम्बाई ल० १५ किमी०, चौड़ाई २ किमी०, चारो ओर लकड़ी

---

1. (V.S. Agrawala, India as Known to Pāṇini, Ch. IIIék10)

की दीवार में तीर चलाने के छेद, दीवार के चारों ओर खाई ६० गहरी, ६०० चौड़ी, ६४ द्वार, दीवार पर ५७० बुर्ज, कुल क्षेत्रफल लगभग ३४ वर्ग किमी० का था ऐसा वर्णन मिलता है।

कोष गृह

बहुत सुदृढ़, पकी ईंटो या प्रस्तर का बनाया जाता था प्रस्तर का बनाने वाला मिस्त्री मार दिया जाता था उसका नाम जाय (वध्य पुरुष) होता था।

चन्द्रगुप्त का राजप्रासाद

वर्तमान में जिस राजप्रसाद के अवशेष मिलते हैं उसके सम्बन्ध में अधिकतर भ्रम लोगों में यह बना रहता है कि यह राजप्रासाद चन्द्रगुप्त का है अथवा अशोक का परन्तु चन्द्रगुप्त के पक्ष में अधिक तर्क मिलते हैं। जैसे–

क. चाणक्य (कौटिल्य) का विवरण चन्द्रगुप्त के लिए था।

ख. सुदृढ़ शासन के लिए सुदृढ़ प्रासाद आवश्यक है।

ग. युनानी लेखकों द्वारा अशोक से पूर्व के प्रासाद की चर्चा।

घ. स्तम्भों के अधोभाग उकरे प्रतीक आहत मुद्राओं के समान।

च. अशोक द्वारा स्वयं पूर्ववर्ती स्तम्भों का उल्लेख।

छ. पतंजलि द्वारा चन्द्रगुप्त की सभा का उल्लेख।

अशोक कालीन वास्तु–

नए स्तुप व पुरानों का विकास, धौली (उड़ीसा), एकाश्म स्तम्भ एवं शीर्ष, बराबर में सात घर गुहा तक्षण, आजीवकों के लिए, कर्ण चौपड़ (३३'५" × १४'६" × १२'६"), सुदामा १२वें वर्ष में १९'११" का गोल कक्ष, बाह्य कक्ष ३२'९" × १९'६" ऊंचाई १२'३", दो गुहाओं में पालिश, लोमश ऋषि सुदामा की भांति, नागार्जुनी में गोपी गुहा ४४' × १९' × १०' दशरथ के समय, स्तम्भ – सारनाथ, सांची, रामपुरवा, लौरिया नन्दन गढ़ (बिहार), कौशाम्बी, मेरठ (कोटला), तोपड़ा (अम्बाला), लुम्बिनी आदि।

वास्तुशास्त्र का स्वरूप

प्रो० शुकदेव चतुर्वेदी

मनुष्य का स्वभाव है कि वह अपने तथा अपने परिवार के लोगों की सुख-सुविधा के लिए मकान बनाता है। किन्तु यदि मकान बनाकर उसमें रहने पर उसको तथा उसके परिवारी जनों को सुख एवं शान्ति न मिले, तो मकान बनाने का उद्देश्य ही निरर्थक हो जाता है। इस धीर एवं गम्भीर प्रश्न का विचार हमारे वैदिक ऋषियों ने किया था और उन्होंने पंचमहाभूतों के साथ तालमेल एवं प्राकृतिक-शक्तियों का प्रबन्धन कर आवास, व्यवसाय तथा धार्मिक क्रियाकलापों के सम्पादनार्थ भवन-निर्माण के जिन सिद्धान्तों, नियमों एवं प्रविधियों का प्रतिपादन किया, उनके समग्र संकलन को वास्तुशास्त्र कहते हैं।

यह एक ऐसी विद्या है, जिसके द्वारा भूमिपरीक्षण भूखण्ड का चयन एवं भवन निर्माण की उस विधि का प्रतिपादन किया जाता है, जिससे निर्मित भवन में रहने या काम करने वाले लोगों का तन, मन एवं जीवन स्वतः स्फूर्त हो सके।

आधारभूत सिद्धांत-पचास सूत्रों में-

वैदिक ऋषियों एवं आचार्यो ने वास्तुशास्त्र के प्राचीन एवं अर्वाचीन ग्रन्थों में इस शाास्त्र के नियमों, विधियों एवं प्रविधियों का गंभीरता पूर्वक चितंन कर इसके आधारभूत सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है, जिनका नवीन भवन के निर्माण, पुराने भवन की मरम्मत एवं वास्तु दोषों के सुधार में उपयोग किया जाता है। यहां वास्तुशास्त्र के आधारभूत सिद्धान्तो का सूत्रशैली में वर्णन किया जा रहा है। ये पचास सूत्र न केवल वास्तुशास्त्रियों के लिए अपितु सिविल इंजीनियर, आर्किटेक्ट, ठेकेदार, मिस्त्री, भवन निर्माण कम्पनी के अधिकारियों एवं आम जनता के लिए समान रूप से उपयोगी हैं।

१. किसी भी प्रकार का कोई निर्मित भवन, जिसका आवासीय, व्यावसायिक या धार्मिक उद्देश्य से लोग व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से उपयोग करते हैं-वह वास्तु कहलाता है।

२. जिस शास्त्र में भूमि एवं भवन में निवास और कार्य करने वाले लोगों को अधिकतम

सुविधा तथा सुरक्षा प्राप्ति के नियमों, सिद्धांतों, विधियों एवं प्रविधियों का प्रतिपादन किया जाता है, उस शास्त्र को वास्तुशास्त्र कहते हैं।

३. वास्तुशास्त्र वैदिक ज्योतिष की एक समृद्ध एवं विकसित शाखा है। इन दोनों में अंग-अंगी भाव सम्बंध है। जैसे शरीर का अपने विविध अंगों के साथ सहज एवं अटूट संबंध होता है, ठीक उसी प्रकार ज्योतिष शास्त्र का अपनी सभी शाखाओं-सामुद्रिकशास्त्र, प्रश्नशास्त्र, अंकशास्त्र, मुहूर्त्तशास्त्र, स्वरशास्त्र एवं वास्तुशास्त्र आदि से अटूट संबंध है।

४. ज्योतिष शास्त्र एवं वास्तुशास्त्र में समानता यह है कि इन दोनों का उद्‌भव वैदिक दर्शन की पृष्ठभूमि पर हुआ है। इन दोनों का समान लक्ष्य मानव मात्र को सुविधा एवं सुरक्षा देना है तथा इन दोनों का विचार क्षेत्र मानव जीवन का घटनाचक्र है। इसलिए ये दोनों शास्त्र एक दूसरे के पूरक हैं।

५. पंचमहाभूतों के साथ तालमेल पूर्वक प्राकृतिक शक्तियों का प्रबंधन एवं उपयोग करना ही वास्तुशास्त्र की मूल संकल्पना है।

६. वास्तुशास्त्र का विचार-बिन्दु आसपास के वातावरण तक सीमित है, जब कि ज्योतिषशास्त्र के विचार के क्षेत्र में वातावरण के साथ-साथ वंशानुक्रम, कर्म एवं काल भी समाहित हैं।[१]

७. जिस जमीन में दरारें हों, रेतीली हो,दीमक हो, पोली हो या जिसमें शल्य हो– उस पर मकान नहीं बनाना चाहिए।

८. जिस जमीन का घनत्व ठोस न हो, या जो दलदली हो-उस पर मकान नहीं बनाना चाहिए।

९. जो जमीन ठोस हो, जिसकी मिट्टी चिकनी हो, पानी बहुत नीचे न हो या पथरीली हो–उस पर मकान बनाना चाहिए।

---

१. वास्तुशास्त्र जीवन के घटनाक्रम की अनुकूलता या प्रतिकूलता का कारण वातावरण को मानता है। इसलिए यह शास्त्र वातावरण में विद्यमान गुरुत्व शक्ति, चुम्बकीय शक्ति, सौर ऊर्जा तथा पंचमहाभूतों का समुचित प्रयोग एवं उपयोग कर जीवन को प्रगति एवं संतुष्टि की दिशा दिखलाता है। जबकि ज्योतिष शास्त्र जीवन में अनुकूलता या प्रतिकूलता के चार कारण मानता है। ये कारण हैं–
१. वंशानुक्रम, २. वातावरण, ३. कर्म एवं ४. काल।
वैदिक ज्योतिष वातावरण को नकारता नहीं है। वह उसको स्वीकारते हुए वंशानुक्रम, कर्म एवं काल को जीवन में सफलता या असफलता का कारण मानकर उनकी तार्किक एवं तथ्य मूलक व्याख्या प्रस्तुत करता है। इसलिए ज्योतिष का दृष्टिकोण एवं विचार क्षेत्र अधिक व्यापक है।

१०. जिस जमीन में फसल, पेड़ एवं पौधे तेजी से बढ़ते हों–वहां मकान बनाना चाहिए।

११. जो जगह देखने में सुंदर लगे और जहां जाने पर मन प्रसन्न हो जाये–वह जगह मकान बनाने के लिए प्रशस्त होती है।

१२. भूखण्ड का आकार–वर्गाकार, आयताकार, भद्रासन एवं वृत्ताकार सभी प्रकार के भवनों के लिए शुभ होता है। गोमुखी भूखण्ड पर आवासीय और सिंहमुखी भूखण्ड पर व्यावयायिक भवन बनाना शुभ होता है। इसके अलावा षड्भुजाकार एवं अष्टभुजाकार भूखण्ड भी शुभ होता है।

१३. त्रिभुजाकार, विषमवाहु, चक्राकार, सूर्पाकार, अर्धवृत्ताकार, अण्डाकार, शकटाकार, धनुषाकर, विजनाकार, कूर्मपृष्ठाकार, ताराकार, त्रिशूलाकार, पक्षीमुख एवं कुम्भाकार भूखण्ड अशुभ होते हैं।

१४. त्रिभुज आदि अशुभ भूखण्डों पर मकान बनाना अत्यावश्यक हो, तो उनके बीच में चौकोर आकृति निकाल कर सुधार कर लेना चाहिए।

१५. विशाल भूखण्ड ऐश्वर्य दायक होता है। किंतु वह किसी भी तरफ से कटा–फटा नहीं होना चाहिए।

१६. दो बड़े भूखण्डों के बीच छोटा–सा/सकड़ा भूखण्ड अच्छा नहीं होता। उस पर आवासीय मकान नहीं बनाना चाहिए।

१७. भूखण्ड की लम्बाई उत्तर–दक्षिण की अपेक्षा पूर्व–पश्चिम में अधिक हो, तो शुभ होता है।

१८. भूखण्ड का ढ़लान पूर्व एवं उत्तर की ओर होना शुभ होता है, पश्चिम एवं दक्षिण की ओर नहीं।

१९. भूखण्ड के बीच में पश्चिम, नैऋत्य, आग्नेय, वायव्य एवं दक्षिण में कुँआ, बोरिंग, भूमिगत टंकी, सैप्टिक टैंक या किसी प्रकार का गड्ढ़ा होना शुभ होता है।

२०. भूखण्ड पर आस–पास के भूखण्डों का पानी बहकर आना या भूखण्ड का आस–पास के धरातल से नीचा होना शुभ नहीं होता।

२१. भवन बनाते समय भूखण्ड पर पश्चिम की अपेक्षा पूर्व में और दक्षिण की अपेक्षा उत्तर में अधिक खाली जगह छोड़नी चाहिए।

२२. भूखण्ड के पश्चिम एवं दक्षिण में ऊंचे पेड़, पहाड़ी चट्टान, टीला एवं ऊंचे मकान शुभ होते हैं। पूर्व एवं उत्तर में नहीं।

२३. भूखण्ड के चारों ओर, उत्तर या पूर्व में सड़क होना शुभ होता है।

२४. आवासीय भूखण्ड के पश्चिम में सड़क होना, पूर्व एवं पश्चिम में दोनों ओर सड़क होना या उत्तर एवं दक्षिण में दोनों ओर सड़क होना-मध्यम होता है।

२५. आवासीय भूखण्ड के अत्यन्त समीप में श्मशान, कब्रिस्तान, मंदिर, सिनेमा या सार्वजनिक स्थल का होना अच्छा नहीं होता।

२६. आवासीय भवन का द्वार पूर्व या उत्तर में रखना श्रेष्ठ होता है। पश्चिम में द्वार सामान्य और दक्षिण में द्वार नहीं रखना चाहिए। द्वार के ऊपर द्वार नहीं रखना चाहिए। किंतु यह नियम बहुमंजिले भवन में लागू नहीं होता।

२७. देवालय, धर्मस्थल एवं व्यावसायिक भवन में चारों दिशाओं में द्वार बनाये जा सकते हैं।

२८. पूजाघर के लिए ईशान कोण श्रेष्ठ है पूर्व एवं उत्तर में भी बनाया जा सकता है।

२९. रसोई घर, भट्टी, फरनेस एवं वायलर आदि आग्नेय में श्रेष्ठ होते हैं। इनको आग्नेय के पास दक्षिण एवं पूर्व में बनाया जा सकता है।

३०. शयनकक्ष दक्षिण में श्रेष्ठ होता है। यह ईशान, आग्नेय एवं पूर्व को छोड़कर कहीं भी बनाया जा सकता है।

३१. अध्ययन कक्ष वायव्य, उत्तर एवं पूर्व में बनाना शुभ होता है।

३२. भोजनकक्ष पश्चिम में बनाना श्रेष्ठ होता है। यह आग्नेय एवं दक्षिण के बीच में, आग्नेय एवं पूर्व के बीच में, वायव्य एवं उत्तर के बीच में और मकान के बीच में ब्रह्मस्थान को छोड़कर बनाया जा सकता है।

३३. बैठक या ड्राईंग रूम पूर्व एवं आग्नेय के बीच में, दक्षिण, पश्चिम या उत्तर एवं वायव्य के बीच में शुभ होता है।

३४. भारी वस्तुओं का स्टोर नैऋत्य में और बिक्री के लिए तैयार माल या रोजमर्रा की चीजों का स्टोर वायव्य में बनाना अच्छा होता है।

३५. हवेली के बीच में आंगन बनाना श्रेष्ठ है। इसका ढाल पूर्व या उत्तर की ओर होना चाहिए।

३६. आवासीय मकान में बेसमेंट आधे से कम भाग पर बनाना चाहिए। यह पूर्वी एवं उत्तरी भाग में बनाना अच्छा होता है किंतु यह नियम व्यावसायिक भवन में लागू नहीं होता।

३७. आवासीय भवन में दक्षिण एवं नैऋत्य के बीच में, उत्तर एवं ईशान के बीच में या पूर्व में आफिस बनाया जा सकता है।

३८. पोर्टिको ईशान, पूर्व, उत्तर या पश्चिम में बनाना उपयुक्त होता है।

३९. शयनकक्ष में सोते समय सिरहाना उत्तर की ओर नहीं होना चाहिए। सिरहाना दक्षिण एवं पश्चिम में शुभ होता है। शौचालय में शौच के समय मुख पूर्व की ओर नहीं होना चाहिए। उस समय मुख उत्तर या दक्षिण की ओर होना चाहिए।

४०. गोबर गैस प्लान्ट, जनरेटर कक्ष, बिजली के मेन स्विचबोर्ड एवं ईन्वरटर आदि के लिए आग्नेय एवं उसके आस-पास पूर्व या दक्षिण की जगह उपयुक्त होती है।

४१. छत के ऊपर पानी की टंकियां दक्षिण या पश्चिम में रखनी चाहिए, पूर्व उत्तर एवं ईशान में कदापि नहीं।

४२. भवन से जल एवं मल की निकासी, सीवेज एवं मोरी आदि वायव्य, पूर्व एवं उत्तर में होनी चाहिए।

४३. सभी दरवाजे एवं खिड़कियों की ऊंचाई समान सूत्र में होनी चाहिए।

४४. व्यावसायिक भवन के आस-पास मंदिर, धर्मस्थल, स्कूल, कालेज, सिनेमा, चौराहा, रेलवे स्टेशन, बसअड्डा, अस्पताल एवं सार्वजनिक स्थान होना अच्छा होता है, किंतु आवास के समीप शुभ नहीं होता।

४५. मंदिर में गर्भगृह, प्रांगण, परिक्रमा, द्वार एवं शिखर का निर्माण वास्तु के अनुसार करना चाहिए।

४६. भवन में अधिकतम तीन प्रकार की लकड़ी का प्रयोग करना चाहिए किंतु नये भवन में पुरानी लकड़ी का इस्तेमाल नहीं करना चाहिए।

४७. बने-बनाये भवन का विस्तार चारों ओर या उत्तर एवं पूर्व की ओर करना श्रेष्ठ होता हैं।

४८. ऑफिस, दूकान या शोरूम में सबसे बड़ी हैसियत के व्यक्ति के बैठने की व्यवस्था ऐसी करनी चाहिए, कि उसका मुख पूर्व या उत्तर की ओर रहे।

४९. भवन का शिलान्यास एवं गृहप्रवेश हमेशा मुहूर्त के अनुसार ही करना चाहिए।

५०. पुराना घर खरीदने के बाद, पुराने घर की मरम्मत के बाद, वास्तु दोष के सुधार के समय, पांच वर्ष से अधिक समय के बाद पुनः उसी मकान में रहते समय, विदेशयात्रा से लौटने पर एवं नये भवन में प्रवेश करते समय विधिवत वास्तुशान्ति का अनुष्ठान करना चाहिए।

इन पचास सूत्रों में आवासीय एवं व्यावसायिक वास्तु के प्रायः सभी सिद्धांतो का समावेश हो जाता है। धार्मिक वास्तु में वैदिक, जैन एवं बौद्ध परम्परा रूप अनेक मानक ग्रन्थ लिखे गये हैं, जिनमें से संस्कृत, प्राकृत एवं पाली में मुद्रित एवं प्रकाशित लगभग ५० ग्रन्थ हमारे देखने में आये हैं।

उपसंहार

उक्त पचास सूत्रों की सहायता से आवासीय एवं व्यावसायिक वास्तु का निर्माण किया जा सकता है किन्तु धार्मिक वास्तु में अनेक देवताओं के मन्दिरों का निर्माण, जैन मन्दिर, स्थानक, बौद्ध-बिहार, गुरुद्वारे, मठ, आश्रम, कुँआ, बावड़ी एवं सरोवर आदि के निर्माण के लिए धार्मिक वास्तु के ग्रन्थों का अवलोकन कर लेना चाहिए। वस्तुतः धार्मिक वास्तु में वैदिक, जैन एवं बौद्ध परम्परा और उनके विभिन्न सम्प्रदायों के भेद से न केवल उपासना की पद्धतियों में भेद है, अपितु उपासना के लिए धार्मिक वास्तु के निर्माण में भी पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। अतः धार्मिक वास्तु का निर्माण करते समय उस धर्म तथा उसके सम्प्रदाय के अनुसार की उपासना-पद्धति के अनुरूप ही उसका निर्माण करना चाहिए।

कालावयव विचार

प्रो० ओंकार नाथ चतुर्वेदी

अनादि और अनन्त काल की सत्ता सदैव विद्यमान है। कालसूचक सूर्यचन्द्रादि ग्रह, नक्षत्र एवं अन्य आकाशीय पिण्डों की रचना भगण (राशिचक्र) सहित सृष्टि के प्रारम्भ में हुई।[१] सृष्ट्यादि से ही निरन्तर अबाधगति से भ्रमणशील सूर्यचन्द्रादि के अवलोकन से दिन-रात्रि की कल्पना उत्पन्न हुई। उनकी दैनन्दिन गति, स्थिति और निरन्तर परिभ्रमण से उनके प्रति जिज्ञासा पैदा होना स्वाभाविक ही है। आकाशीय पिण्डों के गतिशील होने तथा आकाशीय परिवर्तन से उत्पन्न परिस्थिति एवं चमत्कारों से चमत्कृत (प्रभावित) होकर उन घटनाओं की पुनरावृत्ति का आकलन करके पूर्वज ऋषियों ने कालगणना का क्रम शनैः शनैः निर्धारित किया। जिस प्रकार बारह घण्टों के चिह्नित अङ्कों पर निरन्तर घूमने वाली सुइयों से समय की जानकारी होती है, उसी प्रकार बारह भागों (द्वादश राशियों) में विभक्त आकाश-पटल पर सूर्यचन्द्रादि ग्रह-नक्षत्ररूपी सुइयों के शश्वद् भ्रमण द्वारा अनाद्यनन्त काल की जानकारी प्राप्त की जाती है। यह कालगणना सृष्ट्यादि से प्रलय पर्यन्त निरन्तर चलती रहती है। कालज्ञापक सूर्यचन्द्रादि प्रतिदिन प्रत्यक्ष होते हैं। अतः इस ज्योतिषशास्त्र को प्रत्यक्षशास्त्र कहा जाता है।[२] इस शास्त्र में काल का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया है। अतः इस शास्त्र को कालविधायक शास्त्र भी कहा गया है।

यह काल अनाद्यनन्त होने से असीमित तथा व्यवहारोपयोगी काल खण्ड की सीमा बाँधने के कारण सीमित काल कहलाता है। इसकी प्रधान इकाई वर्ष है। वर्ष के आधार पर युग, महायुग, मनु एवं कल्पकल्पान्त तक की असीमित गणना की जाती है तथा जीवन का व्यवहार चलाने के लिये वर्ष, मास, दिन आदि सीमित कालखण्डों की गणना का मुख्य आधार वर्ष ही माना गया है।

यद्यपि काल के नौ भेद माने गये हैं, किन्तु इसके दो प्रमुख भेदों सौर और चान्द्र पर आधारित कालावयवों को व्यवहारोपयोगी स्वीकार किया गया है।

---

१. सृष्ट्वा भचक्रं कमलोद्भवेन ग्रहैः सहैतद्भगणादिसंस्थैः।
शश्वद्भ्रमे विश्वसृजा नियुक्तं तदन्ततारे च तथा ध्रुवत्वे।। सिद्धान्तशिरोमणि मध्यमाधिकार

२. अप्रत्यक्षाणि शास्त्राणि विवादस्तेषु केवलम्।
प्रत्यक्षं ज्योतिषं शास्त्रं चन्द्रार्कौ यत्र साक्षिणौ।।

सौरवर्ष–सूर्य के मेषादि द्वादश राशि भोगकाल को एक सौरवर्ष कहते हैं।[1] मेष, वृष, मिथुनादि प्रत्येक राशि के भोगकाल को सौरमास तथा सूर्य के एक अंश भोगकाल को सौरदिन कहते हैं। सौरवर्ष में सावयव ३६५ (लगभग तीन सौ सवा पैंसठ) दिन होते हैं।

चान्द्रवर्ष–चान्द्रवर्ष का प्रारम्भ चैत्रशुक्लप्रतिपदा को होता है। इसमें भी चैत्रादि बारहमास होते हैं। इसमें लगभग ३५४ दिन होते हैं।

भारतवर्ष में वर्ष की गणना करने में तीन प्रकार के वर्ष का प्रचलन है।

१. विक्रम-सम्वत्, २. शकसम्वत् एवं ३. ईस्वीसन्।

१. विक्रमसम्वत्–विक्रमसम्वत् चान्द्रवर्ष है। इसका प्रारम्भ चैत्रशुक्लप्रतिपदा से होता है। इसमें चैत्र, वैशाख आदि बारह महीने होते हैं।

२. शकसम्वत्–शकवर्ष का प्रारम्भ सायन मेषराशि में सूर्य प्रवेश से होता है। यह समय प्रतिवर्ष २० मार्च के आसपास होता है। भारतीय मानक कलैण्डर में इसी वर्ष का प्रयोग स्वीकृत है। सूर्यचार के आधार पर होने के कारण इसे सौरवर्ष माना जायेगा।

३. ईस्वीसन्–ईस्वीसन् निरयण सूर्यचार पर आधारित होने से सौरवर्ष कहलाता है। जनवरी, फरवरी आदि बारह महीने तथा प्रत्येक माह में असमान तारीख (दिन) होती हैं। इसके एक वर्ष में ३६५ दिन होते हैं। चतुर्थवर्ष में ३६६ दिन की गणना की जाती है।

उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य ने शकों पर विजय प्राप्त कर विजयोल्लास की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिये विक्रमसम्वत् का प्रारम्भ किया। इसके ५७ वर्ष बाद ईस्वी सन् का प्रारम्भ क्राइस्ट के जन्म से प्रारम्भ हुआ। ईस्वी सन् के ७८ वर्ष बाद अथवा विक्रम सम्वत् के १३५ वर्ष के पश्चात् शालिवाहन नाम के प्रतापी राजा द्वारा शक सम्वत् चलाया गया। अतः विक्रम सम्वत् में ५७ वर्ष घटाने पर ईस्वी सन् तथा ईस्वी सन् में ७८ वर्ष घटाने पर शकसम्वत् की जानकारी हो जाती है। शकसम्वत् में १३५ वर्ष जोड़ने पर विक्रमसम्वत् आ जाता है।

उदाहरणार्थ–वर्तमान में विक्रम सम्वत् २०६४, शकवर्ष १९२९ तथा सन् २००७ है।

---

१. रवेश्चक्रभोगोऽर्कवर्षं प्रदिष्टम् द्युरात्रञ्च देवासुराणां तदेव। सिद्धान्तशिरोमणि म०अ०

२०६४-५७ = २००७ ईस्वी सन् हुआ।

२०६४-१३५ = १९२९ शकसम्वत् हुआ।

१९२९ + ७८ = २००७ ईस्वी सन् आ गया।

१९२९ + १३५ = २०६४ विक्रम सम्वत् हो गया।

तीनों प्रकार के वर्षों का प्रारम्भकाल भिन्न-भिन्न होने से जनवरी एवं चैत्र मास के अन्तराल में सही वर्ष की जानकारी में सावधानी रखनी चाहिए।

अयन–उत्तरायण, दक्षिणायन के भेद से अयन दो प्रकार के होते हैं। जब सूर्य उत्तर दिशा की ओर निरन्तर बढ़ना प्रारम्भ करता है, तो उत्तरायण, तथा उसी प्रकार निरन्तर दक्षिण दिशा की ओर प्रवृत्त होने से दक्षिणायन होता है। अयन सायन सूर्य की संक्रान्ति से माना जाता है।

मकर, कुम्भ, मीन, मेष, वृष एवं मिथुन–इन छः राशियों में सूर्य उत्तरायण तथा कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक एवं धनु–इन छः राशियों में दक्षिणायन होता है।[1]

ऋतु–सूर्य के बारह राशियों में संचार से एक सौरवर्ष में छः ऋतुऐं होती हैं। तीन ऋतुऐं उत्तरायण एवं तीन ऋतुऐं दक्षिणायन सूर्य के रहने पर होती है। अर्थात् दो-दो राशियों में सूर्य के संचरण से एक ऋतु होती है। स्पष्टार्थ चक्र देखिये–

ऋतु बोधक चक्र

क्रम सं.	ऋतुनाम	सायन सूर्य की राशियाँ
१.	वसन्त	मीन, मेष
२.	ग्रीष्म	वृष, मिथुन
३.	वर्षा	कर्क, सिंह
४.	शरद्	कन्या, तुला
५.	हेमन्त	वृश्चिक, धनु
६.	शिशिर	मकर, कुम्भ

१. गौलोस्तः सौम्ययाम्यौ क्रियघट रसभे स्वेचरेऽथायने ते।
नक्रात् कीटाच्च ---------------------- ।। ग्रहलाघव

मास—प्रत्येक वर्ष में १२ मास होते हैं। ईस्वी सन् के जनवरी से दिसम्बर तक के मासों से सभी सुपरिचित हैं। चान्द्रमासों के नाम ये हैं—१. चैत्र, २. वैशाख, ३. ज्येष्ठ, ४. आषाढ़, ५. श्रावण, ६, भाद्रपद, ७. आश्विन, ८. कार्तिक, ९. मार्गशीर्ष, १०. पौष, ११. माघ तथा १२. फाल्गुन। इन महीनों के नाम चान्द्रमास की प्रत्येक पूर्णमासी को पड़ने वाले नक्षत्रों के नाम पर रखे गये हैं। सौरवर्ष में भी बारह महीनों के नाम मेषादि बारह राशियों की संक्रान्ति के भेद से होते हैं। किन्तु उनके नाम भी चैत्र वैशाख आदि हैं। मीन की संक्रान्ति में चैत्र, मेष की संक्रान्ति में वैशाख, वृष की संक्रान्ति में ज्येष्ठ इत्यादि।[1] निम्नलिखित चक्र की सहायता से इसे भली प्रकार समझा जा सकता है—

मास-बोधक-चक्र

मास संख्या	चान्द्र एवं सौर मासों के नाम	चान्द्रमास की पूर्णमासी को आने वाले नक्षत्र का नाम	सौरमास सूर्यसंक्रान्ति	ऋतु-नाम
१.	चैत्र	चित्रा	मीन	वसन्त
२.	वैशाख	विशाखा	मेष	,,
३.	ज्येष्ठ	ज्येष्ठा	वृष	ग्रीष्म
४.	आषाढ़	पूर्वाषाढ़ा	मिथुन	,,
५.	श्रावण	श्रवण	कर्क	वर्षा
६.	भाद्रपद	पूर्वाभाद्रपदा	सिंह	,,
७.	आश्विन	अश्विनी	कन्या	शरद्
८.	कार्तिक	कृतिका	तुला	,,
९.	मार्गशीर्ष	मृगशीर्ष	वृश्चिक	हेमन्त
१०.	पौष	पुष्य	धनु	,,
११.	माघ	मघा	मकर	शिशिर
१२.	फाल्गुन	पूर्वाफाल्गुनी	कुम्भ	,,

१. मेषादिस्थे सवितरि यो यो मासः प्रपूर्यते चान्द्रः।
चैत्राद्यः सः ज्ञेयः।

अधिक एवं क्षय मास—जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, कि चान्द्र एवं सौर दोनों प्रकार के वर्षों में चैत्रादि १२ महीने होते हैं। अतः दो अमान्तों के मध्य स्थित चान्द्रमास के बीच में एक सूर्य की संक्रान्ति अवश्य आयेगी। तभी वर्ष के बारह मास होंगे। किन्तु चान्द्रमास से सौरमास की दिन संख्या अधिक होने से (३६५-३५४ = ११ अन्तर) तीसरे वर्ष दो अमान्तों के मध्य सूर्य की संक्रान्ति नहीं पड़ती उस संक्रान्तिहीन चान्द्रमास को अधिकमास कहते हैं।[१] अधिक चान्द्रमास अमान्त से अमान्त तक होता है। दोनों माह में उसका वही नाम होगा। उस चान्द्रवर्ष में १३ माह होगें।

कदाचित् किसी चान्द्रमास (अमान्त से अमान्त तक) में सूर्य की दो संक्रान्ति हो जाय। उसे क्षयमास कहते हैं।[२] उस चान्द्रमास की गणना बारह मासों में नहीं होगी। यह क्षयमास सम्प्रति कार्तिक, मार्गशीर्ष एवं पौषमास में होता है। किन्तु उस वर्ष इसकी पूर्ति दो अधिक मास होने से होती है।[३] अधिक एवं क्षयमास में सभी शुभकार्य वर्जित होते हैं। दक्षिणभारत में अमान्तमास तथा उत्तरभारत में पूर्णिमान्त मास का प्रचलन है।

काल के पाँच अंगों के समूह को पञ्चाङ्ग कहते हैं।[४] वे पाँच अङ्ग कौन से हैं? इसमें कुछ मतभेद भी विद्वानों में पाया जाता है। सिद्धान्ततः काल के अङ्गों की संख्या ग्यारह है। १. वर्ष, २. अयन, ३. ऋतु, ४. मास, ५. दिन, ६. लग्न, ७. पक्ष, ८. तिथि, ९. नक्षत्र, १०. योग एवं ११. करण।

जिस प्रकार एकादशेन्द्रिय जीव को पञ्चेन्द्रिय भी कहा जाता है। उसी प्रकार एकादश अंगों का अस्तित्व होते हुए भी पाँच अंगों में ही उनका समावेश कर लिया गया है।[५] अतः दैनन्दिन जीवन में उपयोगी होने तथा सर्वसम्मत जिन पाँच अङ्गों के समूह को पञ्चाङ्ग कहते हैं, वे हैं—१. तिथि, २. वार, ३. नक्षत्र, ४. योग, ५. करण।[६] इन पाँचों अंगों का स्वरूप सूर्य-चन्द्र की दैनिक गति से प्रगट होता है।

---

१. असंक्रान्तिमासोऽधिमासः स्फुटं स्यात्। सिद्धान्तशिरोमणि।
२. द्विसंक्रान्तिमासो क्षयाख्यः कदाचित्। सिद्धान्तशिरोमणि।
३. क्षयः कार्तिकादित्रये नान्यतः स्यात्तदा वर्षमध्येऽधिकमासद्वयं च। सिद्धान्तशिरोमणि।
४. पञ्चानामङ्गानां समाहारः इति पञ्चाङ्गम्।
५. यथाऽखिलेन्द्रियजन्तोः पञ्चेन्द्रियमुदीर्यते।
तथा कालस्य सर्वाङ्गं पञ्चाङ्गमिति कथ्यते।।
६. तिथिर्वासरनक्षत्रे योगः करणमेव च।
इति पञ्चाङ्गमाख्यातं व्रतपर्वनिदर्शकम्।। भारतीय कुण्डली विज्ञान

१. तिथि–चान्द्रमास में शुक्ल एवं कृष्ण के भेद से दो पक्ष एवं ३० तिथियाँ होती हैं। "दर्शः सूर्येन्दुसंगमः" के अनुसार प्रत्येक अमान्त में सूर्य चन्द्र दोनों एक साथ रहते हैं। उनकी राशि, अंश, कला एवं विकला समान होती हैं। दूसरे शब्दों में चन्द्र एवं सूर्य एक दृष्टिसूत्र में आने के कारण अमावस्या को चन्द्रमा का दर्शन नहीं होता। सूर्य की कक्षा से चन्द्रमा की कक्षा बहुत नीचे (पृथिवी के समीप) होने से सूर्य का प्रकाश चन्द्रमा के ऊर्ध्वपृष्ठ भाग पर पड़ने के कारण अधोभाग अनुज्ज्वल (अन्धकारमय) होता है। इसलिये भूपृष्ठवासियों को अमावस्या के दिन चन्द्रमा का दर्शन नहीं होता। यह आकाशीय घटना प्रत्येक अमान्त में अवश्यम्भावी है। जैसा कि सर्वविदित है कि सूर्य का बिम्ब ही प्रकाशपुञ्ज है। अन्य सभी ग्रह-नक्षत्र उसके प्रकाश से ही प्रकाशित होते हैं।[१] तीव्रगति से चन्द्रमा निरन्तर सूर्य को पीछे छोड़कर अपनी कक्षा में आगे बढ़ता रहता है। सूर्य से चन्द्रमा १२ अंश आगे होने पर एकतिथि, २४ अंश के अन्तर पर द्वितीया तथा ३६ अंश के अन्तराल पर तृतीया तिथि की समाप्ति हो जाती है। चन्द्रमा के आगे बढ़ जाने के कारण सूर्य का प्रकाश शनैः शनैः चन्द्रबिम्ब के अधोभाग पर बढ़ता जाता है। अतः भूपृष्ठदृष्टा के सम्मुख चन्द्रमा का बिम्ब प्रतिदिन एक कला अधिक प्रकाशित होता रहता है। इस तरह पूर्णमासी को चन्द्र-सूर्य का अन्तर १८० अंश होता है, और १५ तिथि अर्थात् पूर्णमासी होती है। उस दिन चन्द्रबिम्ब का अधोभाग (भूवासियों को दृश्य) सूर्य के सम्मुख होने से पूर्णप्रकाशित दिखलाई देता है।

पूर्णिमा के पश्चात् धीरे-धीरे सूर्यकिरणें चन्द्रबिम्ब के ऊर्ध्वपृष्ठ की ओर बढ़ती है, तथा अधोभाग से निरन्तर क्षीण होते-होते अमावस्या को तिरोहित हो जाती हैं। इस प्रकार द्वितीय अमान्त पर सूर्य-चन्द्रबिम्ब पुनः एक साथ आ जाते हैं। उस समय चन्द्र सूर्य का अन्तर ३६०° अंश होता है। अतः ३६० ÷ ३० = १२ अंश एकतिथि का चन्द्रसूर्यान्तर सिद्ध हो जाता है।

पक्ष–अमावस्या के बाद प्रतिदिन चन्द्रमा की कलावृद्धि से शुक्लपक्ष एवं पूर्णिमा के पश्चात् कला का ह्रास होने से कृष्णपक्ष सिद्ध होते हैं। प्रत्येक पक्ष में १५, १५ तिथियाँ होती हैं। जिनके नाम हैं– १. प्रतिपदा, २. द्वितीया, ३. तृतीया, ४. चतुर्थी, ५. पञ्चमी, ६. षष्ठी, ७. सप्तमी, ८. अष्टमी, ९. नवमी, १०. दशमी, ११. एकादशी, १२. द्वादशी, १३. त्रयोदशी, १४. चतुर्दशी एवं शुक्लपक्ष की

---

१. तेजसां गोलकः सूर्यः ग्रहर्क्षाण्यम्बुगोलकाः।
प्रभावन्तो हि दृश्यन्ते सूर्यरश्मिप्रदीपिताः।। सिद्धान्ततत्वविवेक

१५वीं तिथि पूर्णिमा तथा कृष्णपक्ष की १५वीं तिथि अमावस्या कहलाती है। इसकी संख्या ३० होती है।

तिथिक्षयवृद्धि-सूर्य से चन्द्रमा के आगे बढ़ने पर प्रत्येक १२ अंशों के अन्तर पर एक तिथि समाप्त होती रहती है। सूर्य की गति में विशेष अन्तर नहीं पड़ता, किन्तु चन्द्रमा की गति में उछाल सहित न्यूनाधिकता होती रहती है। अतः चन्द्रगति तीव्र होने पर १२ अंश के अन्तर को चन्द्रमा कम समय में पूर्ण करेगा। फलस्वरूप तिथिमान कम हो जायेगा। चन्द्रगति कम होने पर तिथिमान में वृद्धि होगी। कम मान वाली तिथि का प्रारम्भ सूर्योदय के पश्चात् तथा समाप्ति अगले सूर्योदय पूर्व हो जाने पर उस तिथि का क्षय होगा। तिथिमान वृद्धि होने पर दो सूर्योदय काल में एक ही तिथि रहने पर उस तिथि की वृद्धि मानी जायेगी।

२. वार (दिन)–सूर्यादि सात ग्रहों के नाम पर सात वार प्रचलित हैं। उनके क्रमशः नाम हैं– १. रविवार, २. सोमवार, ३. मंगलवार, ४. बुधवार, ५. गुरुवार, ६. शुक्रवार एवं ७. शनिवार।

इनका क्रम भारतीय ज्योतिषशास्त्र में वर्णित ग्रहों की कक्षा के क्रम से निश्चित किया गया है। एक अहोरात्र (सूर्योदय से सूर्योदय तक) में २४ घण्टे होते हैं। भारतीय ज्योतिषशास्त्र के अनुसार आकाशमण्डल के ३६० अंशों को बारह राशियों में विभक्त किया गया है। २४ घण्टे × ६०=१४४० मिनिट में सूर्य ३६०° घूम जाता है। नवीन मतानुसर २४ घण्टों में पृथिवी सूर्य की एक परिक्रमा कर लेती है। १४४० मिनिट ÷ ३६० अंश = ४ मिनट एक अंश में होते हैं। १५ × ४= ६० मिनट या एक घण्टा एक होरा का मान सिद्ध हुआ। अतः एक अहोरात्र में २४ होराऐं होती हैं। उनका स्वामी ग्रहों को माना गया है।

ज्योतिष शास्त्रानुसार पृथिवी से सुदूर सबसे ऊपर शनि की कक्षा, उसके नीचे गुरु, फिर अधः क्रम से मंगल, सूर्य, शुक्र, बुध एवं चन्द्रमा की कक्षाऐं मानी जाती हैं।[१]

---

१. भूमेः पिण्डः शशाङ्कः ज्ञकवि रवि कुजेज्यार्किनक्षत्रकक्षा। सि० शि० गोलाध्याय

परिणामित कक्षा बोधक चक्र
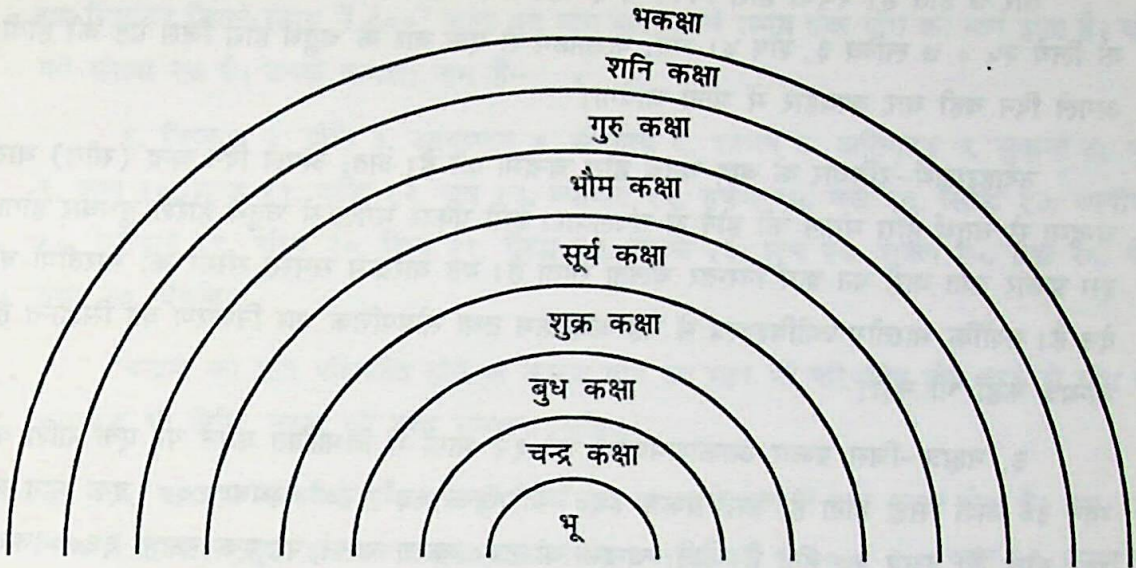
ऊपर से नीचे के क्रम से अहोरात्र की २४ होराओं के स्वामी ग्रह होते हैं। सूर्योदयकाल में जिस ग्रह की होरा होगी, व्यवहार में वही वार दिन भर माना जायगा। २४ होराओं की समाप्ति के बाद अगले सूर्योदयकाल में २५वीं होरा होगी। अतः अगले दिन २५वीं होरा का स्वामी वारेश होगा।

सृष्टि के आरम्भ में सर्वप्रथम सूर्य के उदय होने से सूर्य ही प्रथम होरेश हुआ तथा उसी का वार माना गया।[1] तदनन्तर ऊपर से नीचे कक्षाक्रम से अगला वार २५वीं होरा के स्वामी चन्द्र का माना जायेगा। कक्षाक्रमानुसार रविवार को २४ होरेश का चक्र निम्न है। इसी से २५वाँ होरेश अगले वार का भी ज्ञान हो जायेगा।

होरेश चक्र

होरा	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
स्वामी	सूर्य	शुक्र	बुध	चन्द्र	शनि	गुरु	मंगल	सूर्य	शुक्र	बुध	चन्द्र	शनि
होरा	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
स्वामी	गुरु	मंगल	सूर्य	शुक्र	बुध	चन्द्र	शनि	गुरु	मंगल	सूर्य	शुक्र	बुध

१. लंकानगर्यामुदयाच्च भानोर्तस्यैव वारो प्रथमं बभूव। सिद्धान्त शिरोमणि

वार ७ होते हैं। २५वीं होरा गिनने में ३ बार उन्हीं सात होरेशों की आवृत्ति होती है। लाघव के लिये २५ ÷ ७ लब्धि ३, शेष ४। अतः कक्षाक्रम से एक बार के चतुर्थ होरा जिस ग्रह की होगी। अगले दिन वही वार व्यवहार में माना जायेगा।[1]

उदाहरणार्थ–रविवार के बाद चतुर्थ होरा चन्द्रमा की है। अतः अगले दिन चन्द्र (सोम) वार, चन्द्रमा से चतुर्थ होरा मंगल की होने से मंगलवार। इसी प्रकार मंगल से चतुर्थ होरेश बुधवार होगा। इस प्रकार सात वारों का क्रम निरन्तर चलता रहता है। यह वारक्रम समस्त संसार को भारतीयों की देन है। क्योंकि भारतीय ज्योषिशास्त्र में यह कक्षाक्रम तथा सोपपत्तिक वार निर्धारण का सिद्धान्त है। अन्यत्र कहीं भी नहीं।

३. नक्षत्र–जिस प्रकार आकाशमण्डल को १२ भागों में विभाजित करने पर एक राशि का मान ३० अंश सिद्ध होता है, उसी प्रकार ३६०° ÷ २७ = १३°, २०' अथवा ८००' एक भाग का मान होता है। नक्षत्र २७ होते हैं। अतः चन्द्रमा के ८०० कला चलने पर एक नक्षत्र, १६०० कला चलने पर द्वितीय नक्षत्र की समाप्ति हो जाती है। इस प्रकार २१६०० कला या ३६०° अंश की चन्द्रमा द्वारा पूर्ति करने पर २७ नक्षत्रों की समाप्ति होकर पुनः प्रथम नक्षत्र का प्रारम्भ हो जाता है। २७ नक्षत्रों के नाम हैं–

१. अश्विनी २. भरणी ३. कृतिका ४. रोहिणी ५. मृगशीर्ष ६. आर्द्रा ७. पुनर्वसु ८. पुष्य ९. आश्लेषा १०. मघा ११. पूर्वाफाल्गुनी १२. उत्तराफाल्गुनी १३. हस्त १४. चित्रा १५. स्वाती १६. विशाखा १७. अनुराधा १८. ज्येष्ठा १९. मूल २०. पूर्वाषाढ़ा २१. उत्तराषाढ़ा २२. श्रवण २३. धनिष्ठा २४. शतभिषा २५. पूर्वाभाद्रपदा २६. उत्तराभाद्रपदा तथा २७. रेवती। मध्यममान (६० घटी) से उत्तराषाढ़ा की अन्तिम १५ घटी एवं श्रवण की प्रारम्भिक ४ घटी मिलाकर अभिजित नक्षत्र की कल्पना की गई है। अभिजित सहित २८ एवं सामान्यतः २७ नक्षत्र होते हैं। १२ राशि एवं २७ नक्षत्र होने से एक राशि में सवा दो नक्षत्र आते हैं।

चन्द्रमा की गति के कारण नक्षत्र का समय भी न्यूनाधिक होता रहता है। दो सूर्योदय व्यापी नक्षत्र की वृद्धि तथा किसी सूर्योदय को स्पर्श न करने वाले नक्षत्र का क्षय होता है।

---

१. सप्तैते होरेशाश्शनैश्चराद्या यथाक्रमं शीघ्राः।
शीघ्रक्रमाच्चतुर्था भवन्ति सूर्योदयाद्दिनपाः।। आर्यभटीय

४. योग–सूर्य-चन्द्र के राश्यादि मान के योग (जोड़) से योग निर्मित होते हैं। अर्थात् दोनों ग्रह मिलकर जितने समय में ८००' कला का भोग करें, उतने समय एक योग का मान होता है। योगों की संख्या २७ है। उनके क्रमशः नाम हैं–

१. विष्कुंभ २. प्रीति ३. आयुष्मान ४. सौभाग्य ५. शोभन ६. अतिगण्ड ७. सुकर्मा ८. धृति ९. शूल १०. गण्ड ११. वृद्धि १२. ध्रुव १३. व्याघात १४. हर्षण १५. वज्र १६. सिद्धि १७. व्यपीपात १८. वरीयान १९. परिघ २०. शिव २१. सिद्ध २२. साध्य २३. शुभ २४. शुक्ल २५. ब्रह्म २६. ऐन्द्र तथा २७. वैधृति।

चन्द्रमा की गति परिवर्तित होने के कारण योग का मान भी परिवर्तित होते रहने से योग की क्षयवृद्धि भी तिथि, नक्षत्र की तरह समझना चाहिए।

५. करण–"तिथ्यर्धं नामकरणम्" तिथि मान के आधे भाग में एक करण होता है। अतः एक तिथि में दो करण हुए। इस प्रकार एक मास अर्थात् ३० तिथियों में ३० × २ = कुल ६० करण की आवृत्ति होती है। करण दो प्रकार के होते हैं। १. चरकरण २. स्थिरकरण।

चरकरण– ये ७ होते हैं–१. बब २. बालव ३. कौलव ४. तैतिल ५. गर ६. वणिज तथा ७. विष्टि। विष्टि का दूसरा नाम भद्रा है। यह भद्रा शुभ कार्यों में त्याज्य मानी गई है। इन सात करणों की एक मास में ८ बार आवृत्ति होने से चरकरण कहलाते हैं।

स्थिरकरण–मास में केवल एक बार इनका क्रम आने से ये स्थिरकरण कहलाते हैं। इनकी संख्या ४ है–१. शकुनी २. चतुष्पद ३. नाग एवं ४. किंस्तुघ्न।

कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के उत्तरार्ध में सदैव शकुनीकरण आता है। अमावस्या के पूर्वार्ध में चतुष्पद, उत्तरार्ध में नागकरण होता है। शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के पूर्वार्ध में किंस्तुघ्न करण रहता है। शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के उत्तरार्ध से कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के पूर्वार्ध तक बब आदि चरकरणों की ८ बार आवृत्ति होने से एक माह में ७ × ८ = ५६ चरकरण होते हैं। निम्न चक्र से करणों की स्पष्ट जानकारी की जा सकती है।

करण ज्ञापक चक्र

तिथि	शुक्लपक्ष		कृष्णपक्ष	
	पूर्वार्ध	उत्तरार्ध	पूर्वार्ध	उत्तरार्ध
१	किंस्तुघ्न	बब	बालव	कौलव
२	बालव	कौलव	तैतिल	गर
३	तैतिल	गर	वणिज	विष्टि
४	वणिज	विष्टि	बब	बालव
५	बब	बालव	कौलव	तैतिल
६	कौलव	तैतिल	गर	वणिज
७	गर	वणिज	विष्टि	बब
८	विष्टि	बब	बालव	कौलव
९	बालव	कौलव	तैतिल	गर
१०	तैतिल	गर	वणिज	विष्टि
११	वणिज	विष्टि	बब	बालव
१२	बब	बालव	कौलव	तैतिल
१३	कौलव	तैतिल	गर	वणिज
१४	गर	वणिज	विष्टि	शकुनि
१५	विष्टि	बब	×	×
१६	×	×	चतुष्पद	नाग

इस प्रकार प्रतिदिन इन पाँच अंगों का प्रत्यक्ष मान तथा शेष अंगों की समस्त जानकारी प्रचलित पञ्चाङ्गों में विद्यमान रहती है। जिनकी सहायता से व्रत, पर्व एवं उत्सवों का निर्णय धर्मशास्त्रीय विधि द्वारा सम्पन्न किया जाता है। भारतीय समाज में दैनन्दिन जीवन में पञ्चाङ्ग अत्यन्त उपयोगी है।

वास्तुशास्त्र एक परिचय

-- प्रो० देवीप्रसाद त्रिपाठी

भारतीय चिन्तन धारा के आदि स्रोत के रूप में वेद ही सभी शास्त्रों के मूल आधार हैं। यह सर्वविदित है कि चार वेदों के चार उपवेद भी विख्यात हैं। यथा- ऋग्वेद का आयुर्वेद, यजुर्वेद का धनुर्वेद, सामवेद का गान्धर्व वेद और अथर्ववेद का स्थापत्य वेद। स्थापत्य वेद का अभिप्राय भी निवास योग्य स्थापना से ही है। ऋग्वेद के एक वर्णन में वास्तोष्पति से प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि हे वास्तोष्पते! तुम हमको समझो। हमारे घर को नीरोग करने वाले होओ। जो धन हम तुम्हारे पास मांगे, हमें दे दो। हमारे द्विपद एवं चतुष्पदों के लिए कल्याणकारी होओ[१]। इसी प्रकार का वर्णन आगे भी दो मंत्रों में मिलता है, जिनमें प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि-- हे वास्तोष्पते (गृहस्वामिन्)! तुम हमारे तारक हो और धन के विस्तारक हो। हे सोम! गोओं और अश्वों से युक्त होकर हम जरा रहित होवे। तेरी मित्रता में हम रहें। पिता जैसे पुत्रों का पालन करता है वैसे ही आप हमारा पालन करें।[२] हे वास्तोष्पते! सुखदायक और रमणीय प्रगतिशील, तुम्हारी सभा को हम प्राप्त हों। ऐसा स्थान हमें मिले। हम ऐसे सभा स्थान के सदस्य बनें। प्राप्त धन को तथा अप्राप्त धन की प्राप्ति में हमारे श्रेष्ठ धन को सुरक्षित रखो। हमें सदा कल्याण साधनों से सुरक्षित रखो।[३]

हिन्दू संस्कृति में देव पूजा का प्राधान्य है हर वस्तु एवं हर पिण्ड में देवत्व की कल्पना ही हिन्दू संस्कृति की एक उदात्त भावना है। देव पूजा साकार एवं निराकार दोनों प्रकार की होती है। वैदिक संहिताओं के अनुसार वास्तोष्पति साक्षात् परमात्मा का ही नामान्तर है क्योंकि वे ही विश्वब्रह्माण्डरूपी वास्तु के स्वामी हैं। आगमों एवं पुराणों के अनुसार वास्तुपुरुष नामक एक उपदेवता के ऊपर ब्रह्मा, इन्द्र आदि लोकपाल सहित ४५ देवता अधिष्ठित होते हैं जो वास्तु का कल्याण करते हैं। वास्तु एवं वास्तुपुरुष के प्रादुर्भाव की मत्स्य पुराण में एक

---

१. वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः।
यत् त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।। ऋग्वेद ७/५४/१

२. वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो।
अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान् प्रति नो जुषस्व।। ऋग्वेद ७/५४/२

३. वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमदि रण्वया गातुमत्या।
पाहि क्षेम उत योगे वरं नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।। ऋग्वेद ७/५४/३

कथा इस तरह मिलती है कि - अन्धकासुर के वध के समय भगवान शंकर के ललाट से पृथ्वी पर जो स्वेद बिन्दु गिरे, उनसे एक भयंकर आकृति वाला पुरुष प्रकट हुआ। जो विकराल मुख फैलाये हुए था। उसने अन्धकगणों का रक्त पान किया परन्तु वह तृप्त नहीं हुआ और भूख से व्याकुल होकर त्रिलोकी को भक्षण करने के लिए उद्यत हो गया। इसके पश्चात् शंकरादि देवों ने उसे पकड़ कर पृथ्वी पर औंधे मुख सुलाकर वास्तुदेवता के रूप में प्रतिष्ठित किया। जिस देवता ने जहां से उस वास्तु पुरुष को पकड़ा था वहीं उसी अंग में उस देवता ने वास किया। इसके पश्चात् वह वास्तुपुरुष के नाम से प्रसिद्ध हो गया।[१] यह कथा एक वैज्ञानिक घटना है। जिसे पुराणकारों ने इस प्रकार प्रदर्शित किया। ''शिव'' विश्वकल्याण की भावना से ओत-प्रोत उस तत्त्व का नाम है जो विश्व कल्याण चाहता है। श्वेद्बिन्दु शिव के तृतीय नेत्र से निकला, नेत्र का सम्बन्ध ज्योति के उस प्रथम प्रकाश पुञ्ज से है जो केन्द्र से परिधि की ओर फैलते हुए अन्धकासुर का रक्त पान करता हुआ आगे बढ़ रहा है। कह सकते है कि अन्धकार हट रहा है। यह असत् से सत् की प्रक्रिया है। इसे ऐसा भी कह सकते हैं कि ऊर्जा बढती गयी। यहीं सृष्टि प्रक्रिया का आदि रूप है। एक समय ऐसा आया जब सभी पिण्ड एवं तत्त्व अपनी धुरी पर स्थिर हो गये, वही यह दृश्यमान जगत् है। अग्नि, भविष्य, नारद आदि पुराणों में भी वास्तु पुरूष का वर्णन मिलता है। वैदिक काल में जन्मे वास्तुशास्त्र का पूर्ण विकास आगम एवं पुराण काल में हुआ। महाभारत काल में इसके पूर्ण विकसित होने के प्रमाण मिलते हैं।

ज्यौतिष शास्त्र के संहिता भाग में सर्वाधिक रूप से वास्तु विद्या का वर्णन उपलब्ध होता है। ज्यौतिष के विचारणीय पक्ष "दिग्-देश-काल" के कारण ही वास्तुशास्त्र ज्यौतिष के संहिता विभाग में समाहित हुआ। वैदिक काल से ही ज्योतिष शास्त्र मानव जीवन के विविध पक्षों का सूक्ष्माति-सूक्ष्म विचार करता आ रहा है। इस शास्त्र ने ही मनुष्य के हर पहलू का विचार विस्तृत एवं सटीक रूप से करने का सर्वाधिक प्रयास किया है। जीवन में घटने वाली व्यष्टिगत एवं समष्टिगत आपदाओं के पूर्वानुमान एवं विश्लेषण में इस शास्त्र के होरा एवं संहिता विभाग ने सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि के लिए गृहस्थ को एक शुभ वास्तु (घर) की सर्वाधिक आवश्यकता होती है। ऋग्वेद में प्रायः आवास के अर्थ में लगभग तीस शब्दों का प्रयोग मिलता हैं - गृहम्, गयः पस्त्यम्, दुरोणम्, दुर्यः, दम/दम्, ओकः, पोनिः, धायन्, निवेशनम्, वसतिः, छर्दिस, वर्तिः, वेश्मन्, वरूथम्, शरणम्, वास्तु, शर्मन् सदनम्, सदस्, सदम्, हर्म्यम्, विदथम्, गुहा, ऊस्तम्, क्षयः, अया स्वसराणि, अज्म और छायाः।[२] निघण्टु में गृह के बाइस पर्याय बताये गये हैं - गयः, कृदरः, गर्त, हर्म्यम्, अस्तम्, पस्त्यम्, दुरोणे, नीलम्, दुर्याः, स्वसराणि, अयाः, दये, कृत्तिः, योनिः, सद्म, शरणम्, वरूथम्, छर्दिः,

---

१. मत्स्यपुराण अध्याय २५१

२. ऋग्वेदकालीन आवासीय व्यवस्था, शोधप्रभा, पृष्ठ ४६

छदिः छाया, शर्म, अज्म।[1] घर एक गृहस्थ के लिये आवश्यक है इसी लिए भविष्य पुराण में कहा गया है कि-

गृहस्थस्य क्रियाः सर्वाः न सिद्धयन्ति गृहं विना।
यतस्तस्माद् गृहारम्भकर्म यात्राभिधीयते।।

अर्थात् गृहस्थ की सभी क्रियायें स्वगृह में ही सिद्ध होती है न कि परगृह में। अतः गृहारम्भ करना चाहिए। यथा -

परगेहे कृताः सर्वा श्रोतस्मार्तक्रियाः शुभाः।
न सिद्धयन्ति यतस्तस्माद् भूमीशः फलमश्नुते।।

अर्थात दूसरे के घर में किये हुए श्रोत-स्मार्तादि शुभ कर्मों का फल प्रायः निष्फल हो जाता है क्योंकि इस प्रकार के कार्यो का फल गृहपति (घर मालिक) को जाता है।

सहस्रों वर्षो से हमारे आचार्यों ने इस क्षेत्र में अनेकों परिवर्तन एवं परिवर्धन किये। मत्स्य पुराण[2] के अनुसार भृगु, अत्रि, वशिष्ठ, विश्वकर्मा, मय, नारद, नग्नजित्, विशालाक्ष, पुरन्दर, नन्दीश, शौनक, गर्ग, वासुदेव, अनिरुद्ध, शुक्र, बृहस्पति, एवं अश्विनीकुमारों ने वास्तु की विस्तृत व्याख्या करके अच्छे कीर्तिमान स्थापित किये हैं। अश्विनीकुमार, विश्वकर्मा और मय सर्वाधिक रूप से विख्यात आचार्य रहे हैं। विश्वकर्मा और मय प्रायः वास्तुशास्त्र के समकालीन प्रतिद्वन्द्वी जाने जाते हैं। आज दानवशिल्पी मय का **"मयमतम्"** और देवशिल्पी विश्वकर्मा का **"विश्वकर्मा प्रकाश"** नाम के ग्रन्थ उपलब्ध हैं। उत्तरोत्तर वास्तु शास्त्र पर अनेकों स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रकाशित हुए। इन सभी ग्रन्थों में हर तरह के वास्तु की चर्चा ही नहीं अपितु वास्तु के उद्देश्यों एवं आवश्यकता पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया।

वास्तुशास्त्र की परम्परा को देखने से ज्ञात होता है कि प्रारम्भिक अवस्था में यह विद्या पूर्ण रूप से द्विजों की विद्या के नाम से विख्यात थी।[3] कालान्तर में यह विद्या द्विजों के हाथों से निकलकर द्विजेतरों द्वारा

---

१. निघण्टु ३/४, निरूक्त ३/१३/०६

२. भुगुरत्रिर्वशिष्ठश्च विश्वकर्मा मयस्तथा ।
नारदो नग्नजिच्चैव विशालाक्ष पुरन्दरः ।।
ब्रह्मा कुमारो नन्दीश शौनको गर्ग एव च ।
वासुदेवो अनिरुद्धश्च तथा शुक्रबृहस्पती ।।
अष्टादशैते विख्याता वास्तुशास्त्रोपदेशिकाः ।
सक्षेपेणोपरिष्टं यन्मनेवे मत्स्यरूपिणा ।। मत्स्य पुराण अध्याय २५१

३. सुशीलश्चतरो दक्षः शास्त्राज्ञो लाभवर्जितः ।
क्षमायुक्तो द्विजश्चैव सूत्राधर स उच्यते ।। - राजवल्लभमण्डन १/३५

अधिग्रहीत कर ली गयी। इस स्थिति में स्थपतियों के शास्त्रीय ज्ञान, शास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रयोग एवं चारित्रिक गुण उत्तरोत्तर ह्रास होते गये। जिसके कारण यह विद्या अभिशप्ता बनकर स्वतन्त्र गरिमामय शास्त्र का स्थान खो बैठी। इसी सन्दर्भ में ब्रह्मवैवर्त पुराण में विश्वकर्मा के शापदग्ध पुत्रों - मालाकार, कर्मकार (लोहार), शंखकार, कुविन्द (जुलाहा), कुम्भकार, कांस्यकार (ठठेरा), सूत्रधार (राजगीर एवं बढ़ई), चित्रकार एवं स्वर्णकार का वर्णन उपलब्ध होता है जो ब्रह्मशाप से दग्ध हुए थे।[1]

स्थापत्य वेद ही उत्तरवर्ती काल में ''वास्तु'' शास्त्र के रूप में परिणत हुआ। वैदिक काल में गृहों का निर्माण ही वास्तु माना जाता था। बाद में गृहों के विकास के साथ ही ग्रामों, नगरों एवं महानगरों का विकास होने लगा। ये सभी विकास वास्तु के अन्तर्गत ही हुए, जिसके चलते वास्तु के क्षेत्र में पर्याप्त विकास हुआ। शनैः शनैः मूर्तिकला एवं चित्रकला भी इसके अंग बन गये। मूर्ति निर्माण को शिल्प तथा चित्र निर्माण को आलेख कहा जाने लगा। वास्तु में भित्ति प्रतिमाओं तथा भित्तिचित्रों को स्वीकार कर लिया गया। यही कारण रहा की भोजराज ने 'समराङ्गण' सूत्रधार में वास्तुशास्त्र को तीन भागों में विभक्त माना। **१. वास्तु, २. शिल्प, ३. चित्र।** देववास्तु, राजवास्तु एवं जनवास्तु को वास्तु के, प्रतिमा आदि धातु एवं पाषाण निर्माण को शिल्प के तथा समग्र भित्तिचित्रों को आलेख के अन्तर्गत समाहित किया गया। 'मानसार' और 'मयमतम्' में केवल भवनों एवं प्रतिमाओं से सम्बन्धित विषयों का ही प्रतिपादन किया गया है। कुछ आचार्यों के मत में ये दोनों ग्रन्थ "शिल्प" प्रधान ग्रन्थ हैं। 'विश्वकर्मा प्रकाश' और 'अपराजित पृच्छा' दोनों वास्तु और शिल्प के प्रधान ग्रन्थ माने जाते हैं। उत्तरवर्ती काल में वास्तुशास्त्र पर स्वतन्त्र रूप से बहुत से ग्रन्थ लिख गये। जैसे - प्रमाणमञ्जरी, वास्तुराजवल्लभ, प्रासादमण्डन, वास्तुमण्डन, कोदण्डमण्डन, शिल्परत्न, वास्तुरत्नाकर, वास्तु सूत्रोपनिषद्, वृहद् वास्तुमाला, आदि। प्राचीन काल में कुछ विद्वानों का मानना था कि वास्तु शास्त्र- शिल्पशास्त्र के अन्तर्गत है परन्तु 'समराङ्गण सूत्रधार' ने शिल्प और चित्र शास्त्र को वास्तु में ही समाहित माना। 'समराङ्गणसूत्रधार' से कई सौ वर्ष पूर्व वराहमिहिर ने उक्त सभी विषयों को ज्यौतिष शास्त्र के संहिता विभाग में वर्णित किया है। वराहमिहिर के त्रिस्कन्ध ज्यौतिष पर मानक ग्रन्थ आज भी उपलब्ध है। सम्प्रति प्राप्त वास्तु एवं शिल्प शास्त्र के ग्रन्थों में 'समराङ्गण सूत्र' ही प्रायः सम्पूर्ण वास्तुशास्त्र का ग्रन्थ है क्योंकि यही ग्रन्थ पुर, दुर्ग, भवन, प्रासाद, प्रतिमा, चित्र, यन्त्र, शयनासन आदि समग्र स्थापत्य के अंगों-उपाङ्गों का वर्णन एवं परम्परा का निर्वहन करता है।

---

१. ततो बभूबुः पुत्राश्च नवैते शिल्पकारिणः।
मालाकारकर्मकारशङ्खकारकुविन्दकाः।।
कुम्भकारः कांस्यकारः स्वर्णकारस्तथैव च।
पतितास्ते ब्रह्मशापाद् अयाज्या वर्णसङ्करा।। ब्रह्मवैवर्तपुराण १/१०/१९-२१

जबकि मानसार, शिल्परत्न, मयमतम्, विश्वकर्माप्रकाश, अपराजितपृच्छा आदि मानक ग्रन्थों में उपर्युक्त वर्णित अष्टाङ्गों का वर्णन नहीं मिलता है।

सृष्टि पञ्चभूतात्मक है, ठीक इसी प्रकार मनुष्य का शरीर भी पाँच तत्त्वों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश) का ही समिश्रण है। पृथ्वी पर किया जाने वाला कोई भी कार्य पाँच तत्त्वों पर ही आधारित होता है, पृथ्वी पर सूर्य की रश्मियों का प्रभाव? पृथ्वी का चुम्बकीय क्षेत्र, हवाओं की दिशा व उसका प्रभाव आदि कुछ ऐसे तथ्य हैं जिनका वास्तुशास्त्र की दृष्टि से विचार आवश्यक है। प्रातःकालीन सूर्य रश्मियाँ स्वास्थ्य के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती हैं जबकि मध्याह्न काल में रेडियोधर्मिता से ग्रसित होकर सूर्यरश्मियाँ स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव यहीं डालती हैं। चुम्बकीय क्षेत्र का परिज्ञान होने पर ही हमारे आचार्यों ने उत्तरदिशा की ओर सिर करके सोने के लिए निषिद्ध कहा क्योंकि चुम्बकीय क्षेत्र हमारे शरीर को सर्वाधिक प्रभावित करता है।

वस्तुतः वास्तुपुरुष पृथ्वी की चुम्बकीय शक्ति और विभिन्न बलधाराओं का उठता स्वरूप है जिसे सन्तुलित करने के लिए ग्रहों, नक्षत्रों, सूर्य, चन्द्र, वायु, जल, ताप आदि प्राकृतिक शक्तियों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई परन्तु यह चेतना का स्वरूप है जो बुद्धि से नहीं भावना से देखा जाता है। पृथ्वी सतह की चेतना को हमारे पूर्वजों ने चैतन्य वास्तु पुरुष के रूप में देखा, समझा, पूजा और तदनुकूल भवन, नगर आदि रचनायें की। आज तो भौतिकविद् इस विश्व को अविलगित ऊर्जा प्रतिकृतियों का गतिशील जाल **(Dynamic web of inseparable energy patterns)** मानते हैं। इस समग्र पृथ्वी पर वास्तुपुरुष का एक रूप और प्रत्येक व्यष्टि रूप वास्तु में वास्तु पुरुष का एक अन्य रूप, इस प्रकार के बृहद् से बृहद् एवं सूक्ष्म से सूक्ष्म वास्तु रूपों के वर्णन से यह द्योतित होता है कि जैसे हमारा सम्पूर्ण शरीर एक सजीव इकाई है परन्तु उसे बनाने वाली सूक्ष्म कोशिकायें भी अपने में एक चेतन्य इकाईयां हैं। उनकी प्रतिक्रियायें समग्र शरीर की प्रतिक्रिया होती है। यही एकात्मता का भाव वास्तु में भी प्रधान है। ग्रह, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र आदि सभी के ऊर्जा प्रभाव के कारण वास्तुरचना अनुकूल और प्रतिकूल परिणाम देती है इसीलिए वास्तुशास्त्र ने जीवन में इन सभी बलधाराओं और ऊर्जा प्रभावों को देवताओं के भिन्न-भिन्न नामों और रूपों से देखा, समझा और पूजा।

वास्तुशास्त्र का उद्देश्य सर्वविध सुखी एवं शान्त सुरक्षित जीवन से है जहाँ रहकर व्यक्ति अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सकें। भौतिकवादी दृष्टिकोण से हम एक घर को सुन्दर आकार तो दे सकते हैं परन्तु उसमें व्यक्ति सुखी व समृद्ध रहेगा इसकी निश्चित कल्पना नहीं की जा सकती है, जबकि हमारे आचार्यों ने सर्वविध विचार किया है। हम धरती पर गृह बनाते हैं पृथ्वी हमारी माता है। वह हमें धारण किये हुए है, वह हमारे सौर परिवार की एक सजीव इकाई है जिसमें चतुर्दिक् जीवन फल-फूल रहा है। ऐसा ग्रह हमारे सौर मण्डल में एक ही है

शायद और भी अधिक जीवित ग्रहों वाले सौर मण्डल होंगे जिनका वर्णन रूपान्तर से हमारे प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है परन्तु यह समग्र विश्व ब्रह्माण्ड जिस महत् चेतना से व्याप्त है जो इसको संचालित, नियमित और नियंत्रित करता है वही ईश्वर है। यह कालातीत ईश्वर नित्य नूतन और पुरातन है, स्थिर है और परिवर्तनशील भी है। दृश्य और अदृश्य सबका भूत, भविष्य, वर्तमान भी वही है। यही वास्तु पुरुष के रूप में पूजा जाता है।

आचार्यों ने मानव की सफलता एवं पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि के लिए गृह को परमावश्यक माना है। भारतीय संस्कृति के विकास में धर्म की महत्वपूर्ण भूमिका है। यहाँ धर्म को विराट अर्थ में लिया गया है। हमारे पूर्वजों ने धर्म की कई प्रकार की व्याख्यायें की। इसी सातत्य में उन्होंने लिखा - **यतोऽभ्युदय - निश्रेयस् - सिद्धिः स धर्मः।** अर्थात् जिस से मानव का अभ्युदय और उसका निःश्रेयस दोनों सिद्ध हो सके वही धर्म है। अभ्युदय का अर्थ सांसारिक उन्नति से है। आमोद-प्रमोद, भोजन, निवास एवं परिधान, अलङ्करण एवं रहन सहन के साधन जितने ही प्रचुर हो, सुलभ हों उतने ही वे अभ्युदय के परिचायक माने गये हैं। जैसे-जैसे मानव घर में रहने लगा, वह सभ्य एवं सुसंस्कृत माना जाने लगा अन्यथा मानव को असभ्य एवं जंगली ही कहा जाता था। अस्तु कह सकते हैं कि भवन निवेश मानव सभ्यता एवं संस्कृति के निर्माण में एक प्रमुख साधन है। रहने के लिए झोपड़ी है या विशाल भवन, या गगन चुम्बी विमान, यह तो मानव के अभ्युदय का परिचायक है। भारतीय संस्कृति का मूलाधार देव-तत्त्व है। कोई भी कार्य बिना देवत्व के प्रारम्भ नहीं किया गया, कोई भी शास्त्र बिना देवत्व के पठनीय नहीं है। इसमें कोई भी कला बिना देवत्व के ग्राह्य नहीं है। जैसे - नृत्य कला में नटराज शिव, संगीत में नाद ब्रह्म, आलेख में जगन्नाथ के पट-चित्र तथा वास्तु में वास्तु पुरुष (वास्तु देवता)। यह सर्वत्र देव भावना से बंधा हुआ है। कह सकते है कि यही भारतीय स्थापत्य की विशेषता है। हमने कला और विज्ञान को अध्यात्म एवं दर्शन से अलग नहीं रखा। हमारी मान्यता के अनुसार कला का जन्म मनोरञ्जन से नहीं अपितु धर्म और दर्शन से हुआ है। जो विज्ञान अथवा कला आध्यात्म से शून्य है अथवा दर्शन से अनुप्राणित नहीं है वह कोरी एवं सूखी कला है। जो शुष्क काष्ठ की भाँति जलाने योग्य है। कला और विज्ञान आसुरी सम्पदा है। उसे राक्षस नहीं बनने देना चाहिए। उसे भी देवत्व भावना से सदैव अनुप्राणित रखना ही श्रेयस्कर है जिससे वह पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यावा, सूर्य, चन्द्रादि के समान जनमङ्गल एवं जन-रक्षण कर सके। शुष्क विज्ञान कभी भी भारतीय संस्कृति में ग्राह्य नहीं रहा। पाश्चात्यों ने कला की पृष्ठभूमि सौन्दर्य को माना जो कि भौतिक है। पाश्चात्य भौतिक सौन्दर्य भारतीय रस-सिद्धान्त से पुकारा जाने लगा परन्तु भारतीयों ने तो रस को ब्रह्म कहा। यथा - **"रसो वै सः"** इत्यादि।

भारतीय वास्तु सूक्ष्म से सूक्ष्म भी है और महान से महान भी, गृह चिन्तन में वह **अणोरणीयान्** हैं तथा ब्रह्माण्ड के चिन्तन में **महतोमहीयान्**। अतः इस सन्दर्भ में मात्र गृह तक ही चिन्तन करना अभिशाप होगा।

वास्तु भारतीय संस्कृति का बड़ा ओजस्वी अङ्ग है। यह वह अङ्ग है जहाँ पार्थिव-अपार्थिव दोनो का संगम होता है। अभी तक की व्याख्या का यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिए कि इस देश में भौतिक पक्ष को गौण माना गया, ऐसा नहीं है, हमने तो सदैव आध्यात्म एवं भौतिक को संतुलित रखा। भौतिक की उद्दात गति का सदैव आध्यात्म से निरोध होना चाहिए तभी प्रक्रिया सनातन रह सकती है। अन्यथा भौतिकवादी भस्मासुर अपने जनक शिव को ही भक्षण करने का प्रयास करेगा।

वास्तु के मूल आधार

वास्तु के कुछ मूलभूत सिद्धान्त हैं, जिन्हें केवल औपचारिक रूप में सम्पन्न नहीं किया जा सकता अपितु सम्पन्न न करने पर महती हानि हो सकती है। ये सिद्धान्त किसी भी प्रकार के निवेश के लिए अत्यन्त उपयोगी एवं अनिवार्य बताए गए हैं चाहे वह मन्दिर, पुर, प्रासाद, भवन आदि कोई भी निवेश हो। इन सिद्धान्तों को निम्नानुसार उल्लिखित किया जा सकता है।

१. वास्तु पद विन्यास

२. दिक् साधन

३. मान (प्रमाण) विचार

४. आयादि विचार

५. पताकादि विचार

१. वास्तु पद विन्यास

वास्तु पद विन्यास को ही वास्तुशास्त्र में वास्तु पुरुष मण्डल कहा गया है। वर्तमान में आवास भवन की प्राक्कल्पना अर्थात् वास्तु योजना वास्तु पद विन्यास ही है। स्थापत्य में इसे प्रथम स्थान दिया गया है क्योंकि भवन निर्माण की क्रियान्विति का प्रथम चरण इससे ही प्रारम्भ होता है। प्राचीन भारतीय परम्परा में वास्तु पुरुष की परिकल्पना वैदिक एवं दार्शनिक आधार पर की गई है अतः वास्तु पुरुष की परिकल्पना में कला का दर्शन के साथ समन्वय दृष्टिगोचर होता है। कलात्मक दृष्टि से वास्तुपद विन्यास मात्र एक भवन योजना है, किन्तु दार्शनिक दृष्टि से वास्तु पद विन्यास उस आवासीय भवन में निवास करने वाले निवासियों के कल्याण का जीवन दर्शन है। सामान्य रूप से वास्तु पद विन्यास की प्रक्रिया में भवन योजना बनाने से पूर्व निर्धारित क्षेत्र में वास्तु

पुरुष स्थापना की जाती है। वास्तु पुरुष की परिकल्पना सम्पूर्ण निर्धारित भू-भाग पर की जाती है। निर्धारित भू-क्षेत्र की दिशाएं एवं विदिशाएं निर्धातिर करने के उपरान्त ही इस वास्तु पुरुष का चित्रण किया जाता है। जिसका सिर ईशान में, पाँव नैऋत्य में तथा दोनों हाथ आग्नेय एवं वायव्य में स्थापित होते हैं। यह परिकल्पना औंधे मुँह लेटी हुई स्थिति में की जाती है। इसके साथ ही सम्पूर्ण निर्धारित भू-क्षेत्र का वर्गों में विभाजन किया जाता है। प्रत्येक वर्ग को वास्तु पद संज्ञा से व्यवहृत किया जाता है। ये वर्ग वास्तु के अनुरूप संख्या में ६४, ८१ अथवा १०० इत्यादि हो सकते हैं।[१] प्रत्येक वर्ग (वास्तु पद) का एक-एक अधिकारी देवता निश्चित होता है। सभी वर्गों के अधिकारी देवों को मिलाकर वास्तुदेवता के परिकर की कल्पना की जाती है। किस वर्ग में कौन सा कार्य अपेक्षित है अथवा नहीं है इसका निर्देश इसके पश्चात् ही किया जाता है। वास्तु योजना अथवा वास्तु पुरुष परिकल्पना के सन्दर्भ में वास्तुपदों की महत्ता का उल्लेख करते हुए डॉ. द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल लिखते हैं कि 'वास्तु पद विन्यास में पुरुष कल्पना अनिवार्य रचना है, अतः जब पुरुष की कल्पना है तो पुरुषाङ्गों की कल्पना स्वभाविक ही आ जाती है, जिस प्रकार मानव शरीर के विभिन्न अवयवों में शीर्ष, मुख, हृदय, कटि, जानु, सिरा, अनुसिरा, केश, नाड़ी आदि-आदि होते हैं ठीक उसी प्रकार वास्तु-पुरुष कल्पना में भी इनकी उद्‌भावना की जाती है। अतः किस अवयव पर कौन सा निवेश विहित है और किस अवयव पर अविहित है (यथा-मर्म आदि पर कोई निवेश उचित नहीं है, तथा कौन सा भवन भाग किस देव विशेष के पद पर निवेश योग्य है यह सब ज्ञान वास्तु पद विन्यास के बोध से ही सम्पन्न होता है।[२]

२. दिक् साधन

आवासीय भूमि के दिशा बोध के निमित्त शंकु स्थापित किया जाता है। इसे वास्तु एवं शिल्प शास्त्र के ग्रन्थों में पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। शंकु स्थापन प्रक्रिया प्रायः प्रत्येक निवेश में अपनाई जाती है परन्तु भवन निवेश एवं पुर निवेश में विशेष विचारणीय है। इसका मुख्य प्रयोजन दिक् (दिशा) निर्धारण है।

शंकु काष्ठ द्वारा निर्मित एक विशेष प्रकार की यष्टिका होती है। जिसकी लम्बाई १२, १८ अथवा २४ अंगुल इसके आधार की चौड़ाई ४, ५ अथवा ६ अंगुल हो सकती है।[३] इस प्रकार यह काष्ठ यष्टिका सूच्याकार होती है। निर्धारित भू-भाग के केन्द्र बिन्दु पर ही शंकु की स्थापना का विधान किया गया है। शंकु स्थापना से पूर्व निर्धारित भू-भाग को मण्डलों में विभक्त किया जाता है। शंकु जिस मण्डल में स्थित रहता है उसे केन्द्रीय मण्डल कहते है। शंकु की छाया के द्वारा ही दिशा का निर्धारण किया जाता है।

---

१. अपराजितपृच्छा १८/२०३
२. भवन निवेश पृ ठ ३३
३. समरांगणसूत्रधार २१/११-१२

स्थानीय मध्याह्नकालीन शंकु छायाग्र बिन्दु से शंकु मूल तक रेखा खीचें यह रेखा ठीक उत्तर दक्षिण को इङ्गि करेंगी इसके पश्चात् इस रेखा को शंकु के बाह्य मण्डल की परिधि तक ले जांय, दोनों परिधियों में स्पर्श करने के पश्चात् इसके मध्य भाग अर्थात् शंकु मूल में एक लम्ब डालें यह लम्ब पूर्व पश्चिम होगा। इस प्रकार चारों दिशाओं का निर्धारण करके विदिशाओं का भी निर्धारण करना चाहिए।

शंकु स्थापन का महत्त्व दिशा के सही निर्धारण के लिए है तथा दिशा ज्ञान के बिना वास्तुपदों में क्रियमाण कार्यों की क्रियान्विति सम्भव नहीं है। यही कारण है कि वास्तुशास्त्र में दिक् ज्ञान भवन अथवा पुर निवेश के लिए एक अनिवार्य परम्परा रही है।[1] शंकु स्थापन का वैज्ञानिक महत्त्व भी हैं पूर्व सूर्योदय की दिशा होने के कारण पोषक मानी गई है। अतः भवन में प्रकोष्ठ आदि का विन्यास इस प्रकार किया जाय कि सूर्य रश्मियां अवरुद्ध न हों। तभी शंकुस्थापन की व्यवहारिक उपयोगिता दृष्टिगोचर होगी। सामान्यतया क्षितिज पर जहां सूर्योदय दिखाई देता है उसे पूर्व तथा जहां सूर्यास्त दिखाई देता है उसे पश्चिम कहते हैं।

३. मान (प्रमाण) विचार

वास्तु विन्यास में "हस्त" मापन प्रक्रिया को मौलिक रूप में अपनाया जाता है। वास्तु पदों में निवेश्य भवनादि तथा प्रकोष्ठादि का क्या मान हो इसके लिए प्राचीन काल से ही अंगुल एवं हस्त को प्रमाण माना जाता रहा है।[2] मापन के मानदण्ड का निर्धारण यदि नहीं किया जाता तो वास्तु निवेश में विसंगति उत्पन्न हो जाती, जिसके कारण हम अपनी प्राक्कल्पना के अनुरूप भवन एवं पुर का निवेश नहीं कर पायेंगे, क्योंकि हमारी परिकल्पना में वास्तु-पद-विन्यास नितान्त अव्यक्त है इसे व्यक्त रूप में परिणित करने के लिए मापन एक अत्यावश्यक प्रक्रिया है। दार्शनिक दृष्टि से कहा जा सकता है कि जिस प्रकार निराकार ब्रह्म माया शक्ति के अभाव में सगुण ईश्वर का रूप नहीं हो सकता। उसी प्रकार अव्यक्त वास्तु मापन प्रक्रिया के बिना व्यक्त रूप में परिवर्तित नहीं हो सकता।

अतः जिस प्रकार माया दृश्यमान जगत की मूल शक्ति है उसी प्रकार मापन प्रक्रिया किसी भी वास्तु (भवन, पुर, आदि) का मूलाधार प्रतीत होती है। मापन प्रक्रिया के बिना किसी भी वास्तु की पूर्णता सम्भव नहीं है। जैसा कि 'मयमतम्' में लिखा भी है कि - **मानं धामनस्तु सम्पूर्णं जगत् सम्पूर्णता भवेत्।**[3] मयाचार्य ने इस कथन में जहां मान के महत्त्व को प्रतिपादित किया है वहीं वास्तु की व्यापकता का भी निर्देश दिया है

---

१. भवन निवेश पृ ठ ३४
२. समरांगणसूत्रधार ११/०४-०५
३. मयमतम्

उनके मतानुसार मान ही वास्तु की परिपूर्णता का मूल आधार होता है चाहे वह वृहद् वास्तु के सन्दर्भ में हो अथवा लघु वास्तु के। 'समराङ्गण सूत्रधार' ग्रन्थ के कर्त्ता भोजराज ने प्रमाण की महत्ता को बताते हुए लिखा है कि मापन क्रिया के निश्चित मानदण्डों के परिमाण से ही विन्यस्त किए गए मन्दिर आदि में स्थापित देवादि भी पूजनीय हो जाते हैं। यथा - **प्रमाणे स्थापिताः देवाः पूजार्हाश्च भवन्ति ते।।**[1] 'समराङ्गण सूत्रधार' के इस वाक्य में मान नाप को ही सम्मान का कारक कहा गया है अतः सम्मान एवं उन्नयन के दृष्टिकोण से किसी भी स्थपति के लिए मान ज्ञानार्थ हस्त लक्षण की जानकारी अत्यावश्यक है। शास्त्रीय दृष्टिकोण से किसी भी कला में उसकी कलात्मकता का मूल्यांकन कला में निहित सौन्दर्य तत्त्व है वह केवल शास्त्र मान से ही सम्भव है अतः कहा भी है - **शास्त्रमानेन यो रम्यः स रम्यो नान्य एवहि।**[2] सुन्दर कलात्मककृति द्रव्यों द्वारा तभी सम्भव है जब उन द्रव्यों का उपयोग शास्त्रीय मान से किया गया हो। 'समराङ्गण सूत्रधार' के कर्त्ता ने इसी दृष्टिकोण को महत्त्व देते हुए द्रव्य को मेय शब्द के द्वारा अभिहित किया है - **यत् च येन भवेत् द्रव्यं मेयं तदपि कथ्यते।**[3] कोई भी भौतिक द्रव्य वस्तुतः मेय ही होता है अर्थात् मान योग्य होता है। यहाँ यह तथ्य भी जानना परमावश्यक है कि भौतिक द्रव्यों के उपयोग से निर्मित भौतिक द्रव्य भी मेय ही है। अतः भौतिक दृष्टि से द्रव्यमान वैज्ञानिक महत्त्व का विषय बन जाता है। वास्तु के सन्दर्भ में कई प्रकार के मानों का उल्लेख मिलता है। जैसे भवन-मान, प्रतिमामान, भित्तिमान, इत्यादि। इन सब प्रकार के मानों की केवल जानकारी ही अपेक्षित नहीं है अपितु अच्छे वास्तुकार के लिए इनकी क्रियान्विति भी आवश्यक बताई गई है।

४. आयादि साधन

ज्योतिष शास्त्रीय आयादि साधन की आवश्यकता वास्तुशास्त्रीय दृष्टि से एक महत्व पूर्ण प्रक्रिया है। वास्तु कोष में आयादि साधन को भी मान का आधार बतलाकर षडङ्गमान शब्द से अभिहित किया गया है। यद्यपि शिल्प शास्त्र में जिन षडङ्गों की चर्चा हुई है, वे आयादि षडवर्ग से भिन्न है।[4] आयादि षडवर्ग में निम्न छः विषयों का नाम गिनाया गया है - **१. आय, २. व्यय, ३. अंश, ४. ऋक्ष, ५. योनि, ६. वार-तिथि।** शिल्प शास्त्र के षडङ्ग इस प्रकार हैं[5] - **१. अधिष्ठान, २. पाद, ३. स्तम्भ, ४. प्रस्तर, ५. करण, ६. शिखर।** यहाँ आयादि साधन में यह उल्लेखनीय है कि आयादि षडवर्ग का विचार ज्योतिष के आधार पर किया

---

१. समरांगणसूत्रधार ३४/२१
२. अपराजितपृच्छा ३२/२२
३. समरांगणसूत्रधार ३२/०२
४. दैवज्ञवल्लभ - आयनिर्णयाध्याय
५. भारतीयस्थापत्य पृष्ठ ३८

जाता है। ज्योतिष शास्त्र के विद्वानों के अनुसार आयादि षडवर्ग की उपादेयता गृह के शुभाशुभत्व की दृष्टि से स्वीकार की जाती है। विनिश्चय के साथ ही आयादि षड् वर्ग का निर्णय होता है क्योंकि ये आयादि षड्वर्ग ही भावी उत्तमता के निर्णायक माने जाते हैं। आयादि साधन में ज्योतिषशास्त्र के अन्तर्गत अष्टाङ्ग आय. का विधान उपलब्ध होता है।[1] यथा - १. ध्वज, २. धूम्र, ३. सिंह, ४. श्वान, ५. वृष, ६. खर, ७. कुन्जर, ८. ध्वांक्ष। व्यय के तीन अंग माने गए हैं - १. पिशाच २. राक्षस ३. यक्ष। अंश भी तीन ही माने गए हैं - १. इन्द्र २. यम ३. नृप। ऋक्ष संज्ञा तारा अथवा नक्षत्र की मानी गई है। समस्त ऋक्षों (नक्षत्रों) को या ताराओं को नौ-नौ की संख्या में तीन गणों देव-राक्षस- मनुष्य में विभाजित किया गया है। योनि जिसे वास्तु का प्राण कहा गया है, का सम्बन्ध आय से जोड़ दिया गया है। संक्षेप में अष्टांग आय में प्राची आदि दिशाओं का निर्धारण योनि साधन के नाम से जाना गया है। ये आठ योनियाँ निवेश्यमाण भवन की जननी मानी गई हैं। अतः कई स्थानों पर वास्तुशास्त्र में वास्तु पुरुष को भी आठ प्रकार का कहा गया हैं। तिथि विशेष के साथ वार विशेष का योग भी शुभाशुभ के निमित आयादि साधन में आवश्यक एवं उपयोगी माना गया है। मानसार आदि वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में आयादि की गणनात्मक परिभाषाएं निम्न प्रकार से दी गयी हैं[2] -

१. ल x ८ ÷ १२ = लब्धि/शेष, शेष = आय।
२. चौ x ६ ÷ १० = लब्धि/शेष, शेष = व्यय।
३. ल x ८ ÷ २७ = लब्धि/शेष, शेष = नक्षत्र।
४. चौ x ३ ÷ ८ = लब्धि/शेष, शेष = योनि।
५. प x ६ ÷ ७ = लब्धि/शेष, शेष = वार।
६. प x ६ ÷ ३० = लब्धि/शेष, शेष = तिथि।

ज्योतिष शास्त्र के तन्त्र समुच्चय ग्रन्थ में भी आयादि की परिभाषाएं सूत्र रूप में प्रतिपादित की गई हैं, जो निम्न प्रकार से हैं -

१. प ग ८ ÷ १२ त्र लब्धि/शेष, शेष त्र आय।
२. प x ३ ÷ १४ = लब्धि/शेष, शेष = व्यय।
३. प x ८ ÷ २७ = लब्धि/शेष, शेष = नक्षत्र।
४. प x ३ ÷ ८ = लब्धि/शेष, शेष = योनि।

---

१. वृहद् वास्तुमाला, ज्योतिषतत्वप्रकाश
२. मानसार ६/३२-३७

५. प x ८ ÷ ७ = लब्धि/शेष, शेष = वार।

६. प x ८ ÷ ३० = लब्धि/शेष, शेष = तिथि।

मानसारीय आयादि परिभाषाओं में लम्बाई-चौड़ाई एवं परिधि तीनों को मानदण्ड के निर्धारण का आधार माना गया है, जबकि 'तन्त्र समुच्चय' में मात्र परिधि को ही मानदण्ड का आधार माना गया है। इनमें मूलभेद का कारण यह है कि 'मानसार' की गणना परिभाषाएं दिक् सामुख्य पर 'तन्त्र समुच्चय' की गणना एवं परिभाषाएं शंकु आवरक मण्डल पर आधारित हैं। दिक् सामुख्य में केन्द्र बिन्दु से लेकर प्रत्येक दिशा में लम्बाई एवं चौड़ाई का मापन किया जा सकता है अतः वहां आयादि का निर्धारण लम्बाई-चौड़ाई को आधार बनाकर किया जाता है, किन्तु शंकु आवरक मण्डलीय प्रक्रिया में परिधि के आधार पर ही आयादि का निर्धारण किया जाता है।

यद्यपि 'मानसार' एवं 'तन्त्र समुच्यय' के परवर्ती ग्रन्थों में दोनों प्रक्रियाओं को मिश्रित कर दिया गया है। इसका कारण यह है कि भवन की मान व्यवस्था में दिक् सामुख्य एवं शंकु आवरक मण्डल दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध प्रतिपादित किया जाता है। शंकु आवरक मण्डल के बिना शंकु की सही स्थिति का अनुमान तथा शंकु की सम्यक् स्थिति के अभाव में दिक् निर्धारण भी सम्भव नहीं है। आयादि षडवर्ग के महत्त्व के सन्दर्भ में 'समराङ्गणसूत्र' का निर्देश है कि आयादि षडवर्ग का भवन के मान व्यवस्था के साथ-साथ उसके दिक् के साथ भी अपरिहार्य सम्बन्ध है। वास्तु एवं शिल्प दोनों में इसका प्रयोग आवश्यक है। 'मानसार' के अनुसार लम्बाई अथवा लम्बमान, आय तथा ऋक्ष से, चौड़ाई व्यय तथा योनि से परीक्षित है। परिधि एवं ऊंचाई को वार या तिथि से परिनिष्ठित किया जाता है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया का निष्कर्ष यह है कि भवन निवेश अथवा पुर निवेश के सम्बन्ध में आयादि षडवर्ग के द्वारा जो मान सुनिश्चित होता है वही मान अधिकृत माना जा सकता है अथवा नहीं।

मुहूर्त्तचिन्तामणिकार ने आयदि षड्वर्ग के स्थान पर आयादि नववर्गों की परिकल्पना का वर्णन किया गया है जिसमें सर्वप्रथम पिण्डसाधन करके आयादि के विचार की प्रक्रिया बताई गयी है। पिण्डसाधन के लिए अभीष्ठ नक्षत्र एवं आय की आवश्यकता होती है। नक्षत्रों में वह नक्षत्र सर्वाधिक शुभ माना जाता है जिसकी नाडी और गृहस्वामी की नाड़ी एक ही हो। आयों में विषम आय शुभ है। इन दोनों को अपने अनुकूल मानकर पिण्डसाधन की अद्भूत विधि ग्रन्थकारों ने बताई है। इस प्रक्रिया द्वारा साधित पिण्डमान के पश्चात् ही लम्बाई-चौड़ाई का निर्धारिण करना चाहिए। चौड़ाई पूर्णांकों में लेकर पिण्ड में उसका भाग देकर लम्बाई निकालनी चाहिए। वास्तविक रूप में इस लम्बाई एवं चौड़ाई का गुणनफल ही पिण्ड होता हैं जिसे विकल्प रूप

में क्षेत्रफल भी कहते हैं। यदि हम सीधे लम्बाई चौड़ाई के द्वारा क्षेत्रफल लेंगे तो आयादि हमारे अनुकूल नहीं होगा, तब अनुकूल बनाने के लिए हम क्षेत्रफल के मान में कम ज्यादा करेंगे, ऐसा करने पर अधिक परिश्रम के बाद ही हमारा अभीष्ट पिण्ड बन पायेगा, जिससे कि हमारा अयादि मान शुभ होगा। यह एक कठिन प्रक्रिया होगी इसलिए आचार्यों ने पहले नक्षत्र एवं आय के मान को कल्पित करके पिण्ड का साधन किया। नक्षत्रों में भी आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, मघा, पूर्वाफाल्गुनि, शतभिषा, पू०भा० उ०भा० इन नक्षत्रों को ही गृह निर्माण में अधिक शुभ माना गया है। गृह एवं गृहपति का एक ही नक्षत्र नहीं होना चाहिए।[1] आयादि साधन प्रकार निम्नविधि से कहा गया है। यथा–

१. पिण्ड x ६ ÷ ८ = लब्धि/शेष, शेष = आय।
२. पिण्ड x ६ ÷ ७ = लब्धि/शेष, शेष = वार।
३. पिण्ड x ६ ÷ ६ = लब्धि/शेष, शेष = अंश।
४. पिण्ड x ८ ÷ १२ = लब्धि/शेष, शेष = द्रव्य।
५. पिण्ड x ३ ÷ ८ = लब्धि/शेष, शेष = ऋण।
६. पिण्ड x ८ ÷ २७ = लब्धि/शेष, शेष = नक्षत्र।
७. पिण्ड x ८ ÷ १५ = लब्धि/शेष, शेष = तिथि।
८. पिण्ड x ४ ÷ २७ = लब्धि/शेष, शेष = योग।
९. पिण्ड x ८ ÷ १२० = लब्धि/शेष, शेष = आयु।

५. पताकादि छन्दस्

किसी भी वास्तु को एक समग्र आकार देना जो देखने से ही अपने उद्देश्य एवं स्वरूप का प्रतिपादन करे, उसी को आचार्यों ने पताकादि छन्दस् कहा है। पताकादि छन्दस् शब्द से हम परिचित ही है कि इसका सम्बन्ध पद्यमय रचना को सुन्दर एवं मनोरञ्जक ढ़ग से प्रस्तुत कर पूर्ण रसास्वादन का अनुभव करते हुए उसे एक सुन्दर सहज गति प्रदान करना होता है जिससे एक आनन्दमयी अनुभूति प्राप्त हो सके। ठीक उसी प्रकार वास्तु निर्माण में पताकादि छन्द योजना भी वास्तु को काव्य में परिणित कर देती है जिससे वास्तुकला मात्र भौतिक एवं यान्त्रिक कला न रहकर मनोरम कला का रूप धारण कर लेती है। जिस प्रकार किसी भी सुन्दर काव्य अथवा गीत को सुनकर उसके भौतिक भाव उद्देश्य, छन्द (लय), गति आदि का ज्ञान हो जांता है। उसी

---

१. मुहूर्त्तचिन्तामणिः वास्तुप्रकरण ११, १२

प्रकार भवन के बाह्य स्वरूप को देखने मात्र से ही ज्ञान हो जाय कि यह एक देव भवन है अथवा राज भवन है, शिवालय है अथवा किसी विशिष्ट देवता का मन्दिर है, विद्यालय है अथवा चिकित्सालय, जनभवन है अथवा विशिष्ट भवन आदि। जब हमको यह ज्ञान मात्र किसी भी भवन के बाह्य स्वरूप को देखने से हो जाय तो उसे ही भवन का पताकादि छन्द निर्णय कहते है। आज के निर्माण में प्रायः देखने को मिलता है कि एक विश्वविद्यालयीय निर्माण एवं व्यवसायिक निर्माण के बाह्य स्वरूप में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता है। प्रायः सभी निर्माण एक ही तरह के बहुमञ्जिलीय रूपों में दिखाई देते है अतः कह सकते है कि आधुनिक वास्तु निर्माण कला में छन्दस् का कोई महत्त्व नहीं है। जबकि हमारे प्राचीन वास्तुविदों ने **"इत्थम्भूतलक्षणे"** को स्वीकार करते हुए यह व्याख्या की है कि जिस प्रकार हम किसी भी पिण्ड अथवा वास्तु के बाह्य स्वरूप को देखकर उसके मूल रूप की अभिज्ञा करते है उसी प्रकार भवन को देखने से ही यह ज्ञान भी हो जाना चाहिए कि यह शिक्षालय है अथवा शिवालय आदि। वास्तु शास्त्र में पताकादि छन्दस् छः प्रकार के माने गये हैं - मेरु, खण्डमेरु, पताका, सूची, नष्ट तथा उद्दिष्ट।[१]

मेरु नामक छन्द के अन्तर्गत ऊँचाई कम तथा लम्बाई अधिक होती है चौड़ाई भी अपेक्षाकृत कम ही होती है। अतः इस प्रकार के आवासीय भूभाग में पर्वताकृति तुल्य विशाल भवनों का निवेश किया जा सकता है। प्राचीन काल में राजप्रासाद प्रायः इसी छन्द में बनते थे। ऐतिहासिक दृष्टि से जावा का बोरोबुदर (बहु बुध ा) स्तूप मेरू छन्द (प्रस्तार) का ही स्वरूप है। **खण्डमेरू** प्रस्तार अर्द्ध पर्वताकृति का द्यौतक है। बेलनाकार भूभाग में भी इस प्रकार के छन्दों की योजना का विधान मिलता है। **पताका** नामक छन्द एक लम्बी आकृति का द्योतक है। जैसे पताका का फैलाव एक निश्चित दिशा में क्रमशः कम होता जाता है उसी प्रकार किसी भी त्रिभुजाकार क्षेत्र में इस छन्द को अपनाकर किसी भी भवन एवं पुर की आकृति को रमणीक बनाया जा सकता है। **सूची** नामक छन्द सूची की भांती ऊँचाई में भवन के निवेश को प्रसार प्रदान करता है। इस छन्द में भवन का आकार ऊँचाई में उत्तरोत्तर कम होता जाता है। कम क्षेत्र वाले भूभाग में अधिक आवासीय स्थानों की दृष्टि से इस छन्द को महत्व पूर्ण माना गया है। प्रायः बहुमञ्जिलीय इमारतों का विन्यास इसी छन्दाकृति में किया जाता है। राजस्थान के चितौड़ दुर्ग का कीर्ति स्तम्भ महाराणा कुम्भा ने इसी छन्द में बनवाया है। **नष्ट** एवं **उद्दिष्ट** नामक छन्द केवल छन्दाभास मात्र हैं ये दोनों छन्द चतुष्कोणीय आकृति से अधिक पञ्च अथवा षट्कोणीय आकृति के बोधक हैं। पञ्चकोणीय आकृति में प्रायः नष्ट छन्द को तथा षट्कोणीय आकृति में उद्दिष्ट छन्द को अपनाया जाता है।

---

१. भवन निवेश पृष्ठ ३८

वास्तु निवेश

निवेश वास्तुशास्त्र का महत्त्वपूर्ण अंग है। 'समराङ्गण सूत्रधार' के अनुसार निवेश से पूर्व वास्तु के सभी मूलभूत सिद्धान्तों का पालन हो जाना चाहिए। उदाहरण के लिए लग्न विचार, तिथि, निर्णय, आयादि निर्णय, वास्तु पद विभाग, शिलान्यास, वास्तु पूजन, दिक् साधन आदि। इन सबको पूरा करने के उपरान्त ही निवेश का कार्य किया जाता है। निवेश में ऐतिहासिक दृष्टिकोण रखा जाना आवश्यक होता है। किसी भी निवेश के अन्तर्गत मुख्य कार्य भवन निवेश का ही होता है। पुर के अन्तर्गत जन-भवनों का निवेश कहां किया जाए, राज भवन का निवेश कहां पर हो तथा देव भवन कहां बनाये जाएं, ये सब वास्तुशास्त्र के विचारणीय विषय हैं। ऐतिहासिक दृष्टिकोण एवं वास्तुशास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुपालन के साथ-साथ व्यावहारिक औचित्य का ध्यान रखना भी नितान्त आवश्यक माना गया है। जनभवन निवेश में भवन निवेश की प्रक्रिया का सामान्य अनुपालन किया जाता है, जबकि राजभवन एवं देवभवन के निवेश में भवन निवेश की सामान्य प्रक्रिया को न अपनाकर विशिष्ट प्रक्रिया को अपनाया जाना चाहिए। इसका कारण यह है कि भारतीय स्थापत्य के अनुसार राजभवन एवं देवभवन सामान्य जन भवन निवेश की अपेक्षा एक विशिष्ट निवेश होते हैं। चूंकि विकास की दृष्टि से राजभवन एवं देवभवनों की ऐतिहासिकता अधिक पुरातन है। इनके निवेश में सैद्धान्तिक ही नहीं अपितु कलात्मक अन्तर भी देखा जाता है।

भारतीय कला के अनुरूप राजभवन एवं देवभवन की प्राक्कल्पना सामान्य जनभवन की अपेक्षा भिन्न होती है। राजभवन के निवेश में राजगृह, राजोचित शयनासन, राजक्रीडार्थ यन्त्रादि, राजोचित आयतनादि, राजोचित अश्वशाला, गजशाला, सभागार, यज्ञशाला आदि भवन राजभवन अंगभूत होते हैं। इसी प्रकार देवभवन में देवगृह के अतिरिक्त परिकर गृह, मण्डप, परिक्रमा, स्तम्भ एवं काष्ठ आदि देवभवन योजना के अंगभूत होते हैं।

निवेश में भवन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग है। इसमें भवन के प्रकारों का वास्तुशास्त्रीय ज्ञान अपेक्षित समझा जाता है। 'समराङ्गण सूत्रधार' एवं 'अपराजित पृच्छा' नामक वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में नगर निवेश के लिए चतुश्शाल भवन से लेकर दशशाल पर्यन्त भवनों का निवेश किया गया है, क्योंकि चतुःशाल भवनों से छोटे भवनों का निवेश ग्राम में अपेक्षित माना गया है। पुर निवेश के अन्तर्गत चतुश्शाल भवन से लेकर सप्तशाल भवन तक का निवेश जन सामान्य एवं विशिष्ट वर्ग के आवासीय उपयोग के लिए समुचित प्रतीत होते है तथा इससे ऊपर अष्टशाल भवन से लेकर दशशाल भवन तक के निवेश राजवर्ग के लिए उपयुक्त हैं। भवन निवेश में द्रव्य एवं भवनांश की जानकारी भी पर्याप्त रूप में अपेक्षित होती है अतः किसी भी वास्तुकार को भवन सरंचना में काम

आने वाले द्रव्यों की जानकारी होनी चाहिये। इसी प्रकार भवन के अंगभूत शाला, स्तम्भ, द्वार, मण्डप इत्यादि की जानकारी भी उसे होनी चाहिए, क्योंकि भवन द्रव्यों एवं द्रव्य प्रमाण की जानकारी के अभाव में किसी भी स्थपति का भवन निवेश कार्य सही रूप में सम्पन्न नहीं हो सकता है। एतदर्थ वास्तुशास्त्र में भवन द्रव्यों एवं भवनांगों की विस्तृत विवेचना की गई है।

भवन रचना एवं भवन सज्जा के उपायों का ज्ञान भी भवन निवेश के क्षेत्र में अत्यधिक महत्त्व रखता है, क्योंकि स्थापत्य के अन्तर्गत जब से कलात्मकता का विकास हुआ है, तभी से भवन रचना में बाह्य सौन्दर्य एवं आधुनिकता को महत्त्व दिया जाने लगा है। युगानुकूल अच्छे भवन निवेश के लिए भवन एवं भवनांगों के वेध तथा भंगादि दोषों की जानकारी भी अत्यावश्यक मानी गई है। तथा भवन निवेश से पूर्व शान्ति कर्म के रूप में वास्तुशान्ति का प्रावधान किया गया है। भारतीय वास्तुकला मूलतः आध्यात्मिक है। अतः यहां का स्थापत्य यूनान आदि के स्थापत्य की अपेक्षा विलक्षण प्रतीत होता है। इस स्थापत्य में प्रतीकात्मक उपलक्षणात्मकता, रसात्मकता एवं अलंकरण प्राधान्य देखा जाता है। भारतीय स्थापत्य में भवन निवेश को आठ भागों में विभक्त किया जा सकता है। यथा -

१. भूमि चयन
२. विधा
३. प्रतिकृति
४. विनियोजन
५. द्रव्य एवं चय विधि
६. भवनाङ्ग
७. सज्जा
८. दोष

१. भूमिचयन

सर्वप्रथम भूमि का चयन किया जाता है। यह भूमि उपयुक्त रहेगी अथवा नहीं इस दृष्टि से उसकी परीक्षा की जाती है। परीक्षा के कई प्रकार आचार्यों ने कहे है। पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश के सन्तुलन को देखने की विधि आचार्यो ने इन्हीं की तन्मात्राओं के द्वारा जानने का प्रथम प्रयास किया। शोधनोपरान्त दिक् के सापेक्ष भी विचार आवश्यक है। अतः कह सकते है कि वास्तु विन्यास में प्रथम कृत्य भूमिचयन, भूमिपरीक्षा, शोधन, कर्षण, वास्तु पद विन्यास, मानादि विचार एवं आयादि निर्णय हैं।

२. विधा (प्रकार)

भवन बनाने की अनेक विधायें हैं परन्तु मुख्य रूप से तीन विधायें अधिकतर प्रचलित हैं। (क) जन भवन (ख) राज भवन (ग) देव भवन आदि।

३. प्रतिकृति

शालाओं के द्वारा भवन की मुख्य चार प्रतिकृतियां बनती हैं - एक शाल, द्विशाल, त्रिशाल, चतुश्शाल। इन चारों के परस्पर विन्यास से दशशाल तक के भवनों को बनाया जा सकता है। इस आधार पर लाखों प्रकार के भवन बनाये जा सकते हैं। जैसे एक शाल भवन में अलिन्दादि विन्यास से १०८ प्रकार के भवन बनाये जा सकते हैं। इसी प्रकार द्विशाल के ५२ भवन, त्रिशाल के ७२ भवन, चतुश्शाल के २५६ भवन, पञ्चशाल के १०२५ भवन, षट्शाल के ४०९६ भवन, सप्तशाल के ६५५०० भवन, अष्टशाल के २६२६२०० भवन, नवशाल के १०४८०४४ भवन तथा दशशाल के ५७६ भवन बनते हैं।[1] इन शाल भवन के नामानुसार फल भी कहे गये हैं। इतने प्रकार के भवन बनाने की एक अद्भूत कला वास्तुशास्त्र में विद्यमान है। यदि इन सभी भवनों के प्रकारों का योग किया जाये तो कुल ३७४५९२९ प्रकार के भवन होंगे।

४. विनियोजन

भवन विनियोजन को आधुनिक भाषा में "बिल्डिंग बाईलाज" कहा जा सकता है। भवन का निर्माण कब हो, द्वार कितने और किस किस दिशा में स्थापित हों, निवास भवन में कितनी भूमिकायें (मंजिल) हों, प्रत्येक

---

१. वेश्मनामेकशालानां शतमष्टाधिकं स्मृतम्।
द्वापञ्चाशत् द्विशालानां त्रिशालानां द्विसप्तति।।
चतुश्शालानि वेश्मानि यानि तेषां शतद्वयम्।
पञ्चाशच्चाधिका षड्भिर्विज्ञातव्या मनीषिभिः।।
सहस्रं पञ्चशालानां स्यात् तथा पञ्चविंशतिः।
षट्शालानां षण्णवति स्यात् सहस्रचतुष्टयम।।
वेश्मानि सप्तशालानि भवन्ति परिसंख्यया।
पञ्चषष्टिसहस्राणि तथा पञ्चशतानि च।।
गृहाणमष्टशालानां षट्त्रिंशदपरा भवेत्।
लक्षद्वयं सहस्राणि द्विषष्टिः शतमेव च।।
गृहाणां नवशालानां चत्वारिंश चतुर्युता।
दशलक्षसहस्राणि चत्वारिंशत् तथाष्ट च।।
शतानि दशशालां पञ्चषट्सप्ततिस्तथा।। समरांगणसूत्रधार १०/२-११

भूमिका में द्वार एवं गवाक्ष विन्यास कैसा हो, द्रव्य प्रमाण क्या हो, भवन में कौन सी भूषाएं, प्रतिमायें एवं विच्छित्तियाँ योज्य हैं तथा कौन सी अयोज्य हैं आदि विचार भवन विनियोजन है।

५. द्रव्य एवं चय विधि

भवन में कौन सा द्रव्य कितना लगेगा तथा किस-किस सामग्री का चयन एवं क्रय किया जाय। दीवाल चिनाई का अथवा चिनाई की विधियों का विचार करना ही इस भाग का मुख्य उद्देश्य है।

६. भवनाङ्ग

विन्यास की दृष्टि से भवनाङ्गों पर कुछ विचार तो हो चुका है जैसे शालादि। तथाऽपि इस शीर्षक में शाला, अलिन्द, पीठ, द्वार, स्तम्भ कुड्य (दीवार अथवा दीवाल की लिपाई पुताई) एवं छाद्यादि का विचार करना इस भाग का उद्देश्य है।

७. सज्जा

इस भाग में आवास भवन को किन-किन प्रतिमाओं और प्रकृति चित्रणादि चित्रों से भूषित करना चाहिए आदि का विचार किया जाता है। साथ ही भवन में सर्वप्रथम विन्यास परम्परा विश्वास एवं आस्था के अनुकूल कुलदेवता का किया जाता है परन्तु प्रतिमा एक हाथ से अधिक बड़ी नहीं बनानी चाहिए। द्वारादि अलङ्करण भी भवन सज्जा (भूषा) का ही विषय है।

८. भवन दोष

भवनदोषों का वर्णन विशद रूप में मिलता है। भवन दोषों की विभिन्न कोटियाँ है। बहुत से दोष तो भवनाङ्गों की सुव्यवस्थित एवं परिनिष्ठित योजना के अभाव में आपतित होते हैं। प्रायः दोषों को जानने में भी आचार्यों ने पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, दिक्, काल आदि मूल प्रमाणों पर विचार करने को कहा है। इस प्रकार से प्रायः बहुत से दोष भवन एवं वास्तु में आ जाते हैं। समराङ्गण सूत्रकार ने गृह दोष प्रकरण में २२ प्रमुख दोषों को बताया है।

वास्तुशास्त्र एवं ज्योतिर्विज्ञान का अन्तःसम्बन्ध

– डॉ० मोहन गुप्त

दिक्कालाद्यनवच्छिनानन्त चिन्मात्रमूर्तये।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे।।

यह उस स्थिति का द्योतक है जब न काल था न दिशाएँ। **तमस्तदासीद गहनं गभीरम्**–उस समय सर्वत्र गहन घनघोर अन्धकार था। फिर जब सांख्य मत के अनुसार तीनों गुणों में क्षोभ उत्पन्न हुआ, अथवा नैयायिक मत से ईश्वर को इच्छा हुई कि मैं सृष्टि की रचना करूँ या वेदों के अनुसार परब्रह्म ने अथवा परम शिव ने यह इच्छा की कि 'एकोऽहं बहुस्याम्', उस 'क्षण' काल में अव्यक्त स्वरूप की उत्पत्ति हुई। इसके बाद जब प्रथम सृष्टि हिरण्यगर्भ एवं देव सविता की हुई तो तब व्यक्त काल उत्पन्न हुआ और उसी समय दिशा और देश की भी सृष्टि हुई। यही सांख्य के महत्तत्व की उत्पत्ति का या न्याय वैशेषिक के परमाणु के क्षोभ का काल है जिससे द्वयणुक आदि की उत्पत्ति हुई। आशय यह है कि क्षण और अणु दोनों परम शिव महाकाल के रूप है। क्षण से काल उत्पन्न हुआ तथा अणु से देश व दिशाएँ। एक ही अखण्ड चैतन्य के दो व्यावहारिक स्वरूप सृष्टि के संदर्भ में हैं। अतः मूलतः दिक् और काल अखण्ड हैं इसीलिये द्रष्टा की अपेक्षा से उनके भिन्न-भिन्न बदलते हुए रूप देखे जा सकते हैं। वाक्यपदीयकार ने ठीक ही लिखा है–

चैतन्यवत् स्थिता लोके दिक्काल परिकल्पना।
प्रकृतिं प्राणिना तां हि कोऽन्यथा स्थापयिष्यति।।[१]

अनवच्छिन्न चैतन्य जब दिक्काल से अवच्छिन्न होता है तो उसमें शुभाशुभत्व हेय प्रेयस्त्व आरोपित होता है। उसी का अध्ययन तत्सम्बन्धी शास्त्र कहलाता है। इस संबंध में दिक् तथा देश का अध्ययन वास्तुशास्त्र की परिधि में आता है तथा काल का अध्ययन ज्योतिर्विज्ञान की परिधि में। इस अध्ययन में दिक्काल का कलन या गणना है तथा भोक्ता के सन्दर्भ में शुभाशुभत्व हेय प्रेयस्त्व भी। इस प्रकार वास्तुशास्त्र तथा ज्योतिर्विज्ञान एक ही अखण्ड तत्व के दो स्वरूप हैं। यदि हम कहें कि

---

१. वा.प. दिक्समुदेशः १८

ये दोनों महाकाल की दो जुड़वाँ सन्तानें हैं तो विचार स्पष्टतर ही होगा। जब हम वास्तुशास्त्र की उत्पत्ति की ओर ध्यान दें तो भी यही निष्कर्ष निकलता है। मत्स्यपुराण के अनुसार–

तदिदानीं प्रवक्ष्यामि वास्तुशास्त्रमनुतमम्।
पुरान्धकवधे घोरे घोररूपस्य शूलिनः।।
ललाट स्वेद सलिलम् अपतद्भुवि भीषणम्
करालवदनं तस्माद् भूतमुद्भूतमुल्वणम्[१]।।

वास्तु पुरुष की उत्पत्ति महादेव के स्वेद बिन्दु से हुई है और कालपुरुष महादेव का अंश ही है। इस प्रकार दार्शनिक तथा पौराणिक दोनों अवधारणाओं के स्तर पर वास्तुशास्त्र तथा ज्योतिर्विज्ञान का अनन्य अन्तःसम्बन्ध है–एक दिशा तथा देश के गुणधर्मों तथा उसके हानोपादान का मार्गदर्शक शास्त्र है तो दूसरा काल के गुणधर्मों तथा उसके हानोपादान का मार्गदर्शक है। दोनों की चिन्तन विधि, तर्क सरणि, व्यवहार्य विषयों में देवत्व की स्थापना, सूर्यादि ग्रहों, नक्षत्रों, राशियों, तिथियों, योगों का व्यवहार, समय के शुभाशुभत्व की अपेक्षा, ग्रहों के कारकत्व, ग्रह–भावों के परस्पर सम्बन्ध, भोक्ता से ग्रह नक्षत्रों के स्थायी तथा तात्कालिक सम्बन्ध, वास्तु और काल के उचित निर्णय से गृहपति तथा लोक की सुख-समृद्धि सिद्ध-वृद्धि की कामना समान हैं और किसी भी अन्य शास्त्र की तरह इन दोनों का उद्देश्य भी मनुष्य को धर्मार्थ काम मोक्ष, इस पुरुषार्थ चतुष्टय से युक्त कराना है।

अवधारणा से जब हम सूक्ष्म स्वरूप के स्तर पर आते हैं तब भी ऐक्य ही दिखाई देता है। ज्योतिर्विज्ञान व्यापक अन्तरिक्ष का अध्ययन करता है जिसमें सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि ज्योतिष्पिण्ड तथा इन्द्र, वरुण, रुद्र, मरुत्, पर्जन्य आदि देवता हैं। वास्तु भी चार दीवारों से अवच्छिन्न इस अन्तरिक्ष का ही अध्ययन है। इसमें भी वे ही ज्योतिष्पिण्ड तथा वे ही देवता हैं, उनके वे ही कार्य तथा कारकत्व हैं। प्रो. एस.के. रामचन्द्रराव ने अपने एक महत्वपूर्ण लेख 'वास्तु विद्या' में इस बात को स्पष्ट किया है–

'The word 'vastospati' occurs in Rgveda (VII-54.1) and sayana explains that this is the spirit that protects the house. This spirit is identified with Indra by Devaraja yajvan in his commentary on the Nighantu. He takes vastu as signifying mid-region

---

१. 'मत्स्य पुराण' अध्याय २५२ श्लोक ५-६
सम्पादक पं. तारिणीश झा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, १९८८, पृ० ४२६

(वास्तु अन्तरिक्षम्) - the starvy vault (अन्तःमध्ये ऋक्षाणि नक्षत्राणि यस्य तत्) and the gods in this sphere include Indra, Vayu, Parjanya, Rudra, Maruts etc.'[1]

अतः जिस प्रकार व्यापक अन्तरिक्ष के अधिष्ठाता देवताओं तथा ग्रह पिण्डों का प्रभाव सभी मनुष्य तथा प्राणियों पर पड़ता है उसी प्रकार गृह में आबद्ध अन्तरिक्ष के अभिमानी देवताओं तथा ज्योतिष्पिण्डों का प्रभाव गृहपति पथा उसके परिवार पर पड़ता है–गृह पर तो पड़ता ही है। दोनों विद्याओं का मूल वेद में है। ज्योतिष तो वेदांग है ही, वास्तुशास्त्र भी ऋग्वेद के समय से ही विकसित हो गया था। उसका सबसे बड़ा प्रमाण है ऋग्वेद के सातवें मण्डल का ५४ वाँ सूक्त। यह सूक्त वास्तोस्पति को ही समर्पित है, जो इस सूक्त के देवता हैं तथा अत्यन्त सुन्दर मन्त्रों से वास्तोस्पति की प्रार्थना की गई है–

वास्तोस्पते प्रतिजानीह्यस्मान् त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः।
यत् त्वेमहे प्रति तन्नोजुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे[२]।।

'हे वास्तोस्पते! तुम हमें अपना समझो। हमारा घर नीरोग करने वाला हो। जो धन हम तुम्हारे पास मांगेगे वह हमें दे दो। हमारे दो पैर वाले (मनुष्य) तथा चार पैर वाले (पशु आदि) के लिये कल्याणकारी होओ।'

वास्तोस्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभि अश्वेभिरिन्दो।
अजरासस्ते सख्यं स्याम पितेव पुत्रान् नो जुषस्व।।[३]

'हे वास्तोस्पते! गृह के स्वामिन्! तुम हमारे तारक हो और धन के विस्तारकर्ता हो। हे सोम। गौओं तथा अश्वों से युक्त होकर हम जरारहित हों। तेरी मित्रता में रहें। पिता जैसा पुत्रों का पालन करता है, उस तरह हमारा पालन कर।'

इन मन्त्रों से वास्तुपति का माहात्म्य स्पष्ट हो जाता है। वैदिक आर्य देवताओं जैसे चित्रित सुन्दर गृहों के अभिलाषी थे।

---

1. Vastu Astrology and Architecture: Ed. Gayatri Devi Vasudeva. Article 'Vastu Vidya' by Prof. S.K. Ramachandra Rao, p. 13-14
२. ऋग्वेदः भाष्यकार डॉ० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, वाल्यूम-३, स्वाध्याय मण्डल पारडी, १९८८, VII.54.1,2 p. 115
३. तत्रैव मन्त्र सं० २

भोजस्येदं पुष्करिणीव वेश्म परिष्कृतं देवमानेव चित्रम्[१]

'दाता का यह गृह पुष्करिणी के समान निर्मल, अनेक फूलों से सुशोभित और देवों के मन्दिरों के समान अद्भुत, मनोहर सुसज्जित है।'

पद विन्यास के स्तर पर साम्य–मूल और अवधारणा के बाद वास्तुशास्त्र का सबसे महत्वपूर्ण अंग है पद विन्यास। इस संबंध में बारह राशियों तथा गृहों की वे ही दिशाएँ हैं जो ज्योतिर्विज्ञान में हैं, जैसे–

कुलीरवृश्चिकौ मीन उत्तरद्वार संस्थिता।
मेषसिंहधनुर्धराः पूर्वद्वारेषु संस्थिता।।

वृषभं मकरं कन्या याम्यद्वारे समाश्रिताः।
मिथुनं तुलकुम्भौ च पश्चिमद्वारमाश्रिताः[२]**।।**

प्रागादीशाः क्रियवृषनृयुक्कर्कटास्सम त्रिकोणाः[३]

उसी प्रकार ग्रहों को भी जिन–जिन दिशाओं का स्वामी वास्तुशास्त्र ने माना है, वही ज्योतिर्विज्ञान भी मानता है। वस्तुतः ज्योतिर्विज्ञान एक वेदांग होने से उसी की शुभाशुभत्व की भित्ति पर वास्तुशास्त्र भी आधृत है।

भानुः शुक्र क्षमापुत्र सैंहिकेयः शनिः शशि।
सौम्यस्त्रिदश मन्त्री च प्राच्यादि दिगधीश्वरा।।[४]

ईशान	प्राची	अग्निकोण
(गुरु)	(सूर्य)	(शुक्र)
उत्तर		दक्षिण

१. ऋग्वेद खण्ड IV (X.109.10) p. 237
२. विश्वकर्मप्रकाशः १३७, १३८ बाबू वैजनाथ प्रसाद काशी, सं० २०४४, पृ० ३६
३. बृहज्जातकम् : १/१० वराहमिहिरः चौखम्बा, वाराणसी, १९७६, पृ० १४
४. सारावली : ४/८ डॉ० मुरलीधर चतुर्वेदीः मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, १९९८, पृ० १६

(बुध)		(मंगल)
वायव्य	पश्चिम	नैऋत्य
(चन्द्रमा)	(शनि)	(राहु)

ग्रह तथा राशियों के इन्हीं गुणधर्मों को ध्यान में रखकर वास्तुशास्त्र ने गृह निर्माण में विभिन्न भवनों का विन्यास किया है—

ईशान्यां देवतागेहं पूर्वस्यां स्नानमन्दिरम्।
आग्नेय्यां पाकसदनं दक्षिणे शयनं गृहम्।।

राक्षसे शस्त्रसदनं वारूण्यां भोजनालयम्।
वायव्ये धान्यगेहं तु भाण्डागारमुत्तरे।।

आग्नेयपूर्वयोर्मध्ये दधिमन्थन मन्दिरम्।
अग्नि प्रेतेशयोर्मध्ये आज्यगेहं प्रशस्यते।।

याम्य नैऋत्ययोर्मध्ये पुरीषत्यागमन्दिरम्।
नैऋत्याम्बुपयोर्मध्ये विद्याभ्यासस्य मन्दिरम्।।

पश्चिमानिलयोर्मध्ये रोदनार्थं गृह स्मृतम्।
वायव्योत्तरयोर्मध्ये रतिगेहं प्रशस्यते।।

उत्तरेशानयोर्मध्ये औषधार्थं तु कारयेत्।
नैऋत्यां सूतिकागेहं नृपाणां भूतिमिच्छताम्।।[१]

---

१. विश्वकर्मप्रकाशः ऊपर उद्धृत (II. 100 से 105) पृ० ३१

वायव्य (नार्थ-वेस्ट)

कूप

उत्तर

ईशान (नार्थ-ईस्ट)

धान्य भण्डार	शयनागार (रतिगेह)	शृंगार कक्ष	औषधि
गोष्ठ (गैरेज)		द्रव्यालय	पूजा स्थल
स्नानघर	प्रवेश-पथ		
भोजन कक्ष (डाइनिंग-स्पेस)	चौक या ड्राईंग-हॉल		
बच्चों का कमरा			स्नानघर
अध्ययन कक्ष ग्रन्थालय	बेडरूप शयन-कक्ष	भंडार घर	दधिमन्थ रसोईघर घृतसीर
शस्त्रागार / W.C.			

पश्चिम

मुख्य द्वार पूर्व

दक्षिण

नैर्ऋत्य (साउथ-वेस्ट)

आग्नेय (साउथ-ईस्ट)
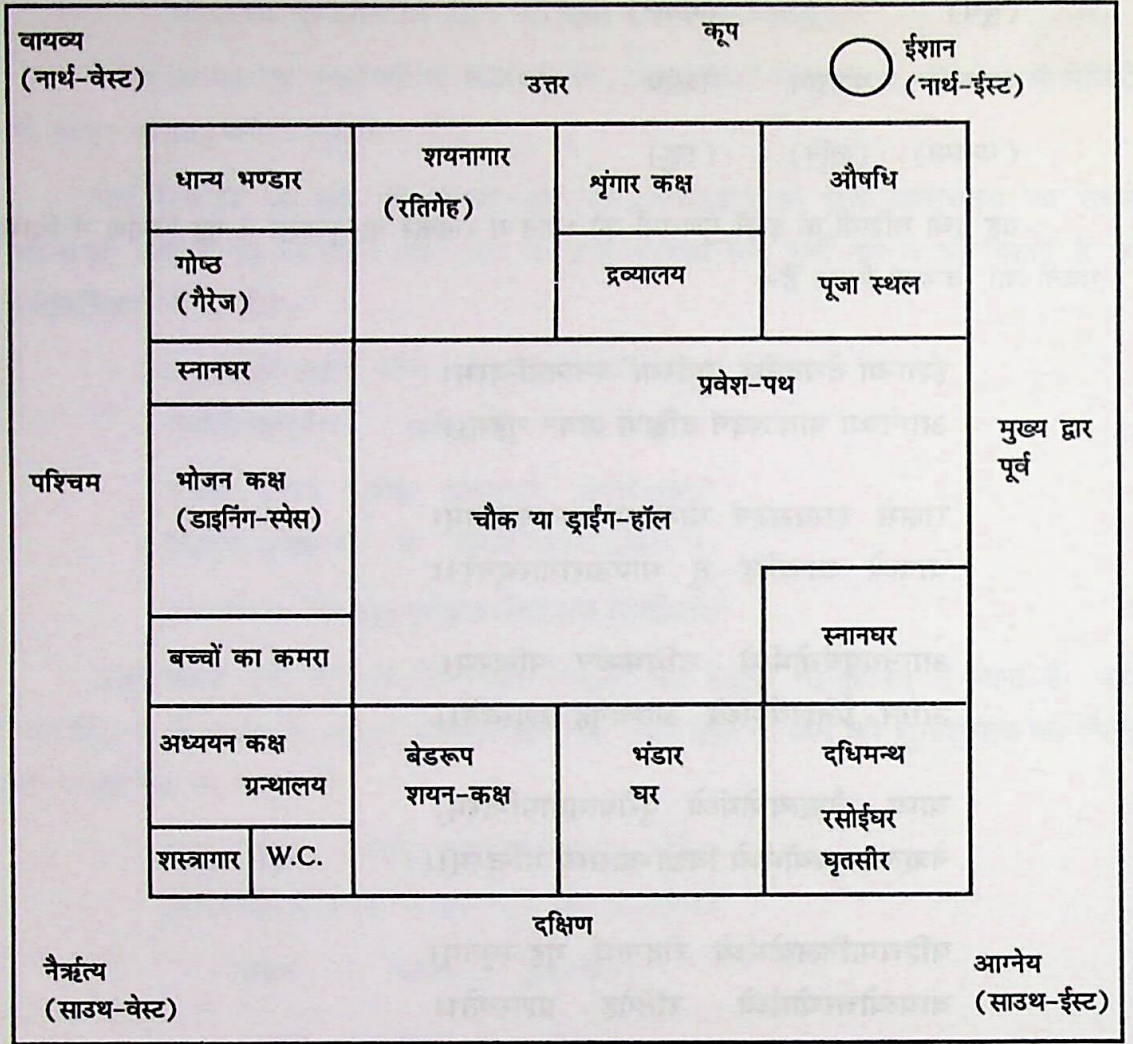
वास्तुविन्यास (Layout)

प्रकारान्तर से नैऋत्य कोण के विन्यास–

घर के सभी उपकरण (मत्स्यपुराण), शस्त्रागार (वास्तुतत्व, कामिकागम, विश्वकर्मप्रकाश), ग्रन्थालय, शास्त्र मन्दिर, (वास्तुप्रबन्ध), स्नानागार (मत्स्यपुराण)

यह वास्तु विन्यास दिशा के स्वामी तथा उनके देवता की प्रकृति के अनुसार है। पूर्व का स्वामी सूर्य तथा देवता इन्द्र है। यही प्रभात में प्रकाश की किरणों के प्रवेश का स्थान है। अतः इस दिशा

में प्रवेश उचित ही है। वैसे वास्तुशास्त्र के अनुसार गृह का मुख किसी भी मुख्य दिशा में हो सकता है, विदिशा (अग्नि, नैऋत्य, वायव्य या ईशान) में वांछनीय नहीं है। चारों दिशाओं के देवता, भारतीय देवमण्डल के प्रमुख देवता ही हैं–इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर। इसी प्रकार ग्रह भी सूर्य, मंगल, शनि और बुध हैं। आयादि की परिकल्पना में प्रत्येक दिशा में मुख होने का परिणाम बताया गया है–

गृह द्वार किस दिशा में हो

ध्वजो धूमस्तथा सिंहः श्वानूवृषो गर्दभो गजः
काक इत्येष गदितो वास्तुस्थानस्य निर्णयः।

ध्वजे विभूतिर्विपदश्चधूमे सिंहे विभोगाः शुनि सर्वनाशः
वृषे सुखं गर्दभतो विनाशो गजे धनं काकपदे च मृत्युः[१]।।

आजकल वास्तुकार दक्षिण मुख गृह को अच्छा नहीं समझते। मैं सोचता हूँ उनका भ्रम किसी नगर के सन्दर्भ में गृह की दिशा निर्धारण में दक्षिण दिशा के निन्द्य होने के कारण है। युक्ति कल्पतरु इसे वास्तु भाग की संज्ञा देता है जिसका अर्थ यह भी हो सकता है क्षेत्र की किस दिशा–विदिशा का क्या गुणधर्म है–

मृत्युर्भय स्थिरश्चण्डो धनं विभव एव च
वीर स्तापश्च इत्यष्टौ वास्तुभागा यथाक्रमम्।
यमनैऋत तोयेश वायुयक्षेश शंकराः
इन्द्रो वह्निरिति प्रोक्ता विभागानामधीश्वराः।।

इसके अनुसार दक्षिण से सव्य क्रम में (clock-wise) मृत्यु, भय, स्थिर, चण्ड, धन, विभव, वीर तथा ताप ये परिणाम बताए हैं। अतः केवल चार दिशाएँ ही श्रेष्ठ ठहरती हैं पश्चिम (स्थिर), उत्तर (धन), ईशान (विभव) और पूर्व (वीर)। शेष चार दिशाऐं अवांछनीय हैं। किन्तु वराहमिहिर स्तष्ट रूप से सामान्य मत से सहमत होते हुए कहता है–

ऐशान्यादिषु कोणेषु संस्थिता बाह्यतो गृहस्यैताः।
चरकी विदारिनामाथ पूतना राक्षसी चेति।
पुरभवन ग्रामाणां ये कोणास्तेषु निवसतां दोषाः।।[२]

इसी प्रकार अग्निपुराण (अध्याय १०५) कहता है कि–

'दिक्षुद्वाराणि कार्याणि न विदिक्षु कदाचन'

'द्वार मुख्य दिशाओं में ही बनाना चाहिये। विदिशाओं में नहीं।'

कई बार भूखण्ड की स्थिति ऐसी होती है कि ठीक दिशा को उन्मुख न होते हुए किसी कोने को उन्मुख होता है। ऐसी स्थिति में क्या किया जाय इसी को ध्यान में रखकर कोण–रेखा तथा दण्ड का सिद्धान्त बनाया गया है, जिसमें बताया गया है कि–

---

1. Vastu, Astrology and Architecture: aboe cited, p. 21
२. बृहत्संहिता : वराहमिहिर : सम्पादक अच्युतानंद झा, चौखम्बा, वाराणसी, १९७७ (५३ : ८३,८४) पृ० ३४४

पूर्व पश्चिमतो दण्ड उदयाख्यः सुखावहः।

आग्नेय कोण शुक्र का है तथा देवता अग्नि है, अतः यहां पाकशाला उचित ही है। यहीं दधिमन्थन तथा घृत रखने का स्थान है। शुक्र स्त्री ग्रह है अतः यह क्षेत्र पत्नी के अधिकार का क्षेत्र है। दक्षिणं मंगल की दिशा है यह सौमंगल्य का प्रतीक है। साथ ही पुरुष को पौरुष प्रदान करने वाला रजः प्रधान ग्रह है। अतः इस दिशा में शयनागार उचित ही है। उसके पास ही नैऋत्य में शौचालय अत्यन्त उपयुक्त है तथा नैऋत्य पश्चिम दिशा में ग्रन्थालय अध्ययन कक्ष शयनागार के समीप है। शनि एक नैयायिक दार्शनिक ग्रह है अतः अध्ययन के लिये उपयुक्त है। यह (पश्चिम) वरुण की दिशा है, अतः इधर जल-स्थल कूप इत्यादि रहना उचित है। वायव्य का स्वामी चन्द्रमा है तथा उतर का बुध। कुबेर उसका देवता है, अतः इस तरह रतिगृह (चन्द्रमा मन का कारक है अतः मनोभव से उसका सीधा सम्बन्ध है, वह धन का भी कारक है साथ ही सौन्दर्य का कारक है) शृंगार कक्ष, द्रव्यालय, गोष्ठ तथा भण्डार गृह हैं। भगवान् शंकर तथा देवगुरु बृहस्पति की दिशा ईशान है, अतः इधर पूजा घर, औषधि गृह इत्यादि रखे गये हैं। इस प्रकार ज्योतिर्विज्ञान के ग्रहों के कारकत्व को ध्यान में रखकर पद विन्यास किया गया है। प्रो. रामचन्द्रराव ने ठीक ही लिखा है–

'The Vastu principles are inalienably linked with astrological considerations, for a building is not only to serve practical and immediate purposes, but to make for gain happiness, longevity and prosperity of the inhabitants of the house.'[1]

पद विन्यास के साथ-साथ वास्तु चक्र में निर्धारित वास्तु पुरुष तथा काल पुरुष का स्वरूप भी एक है।

वास्तुचक्रं प्रवक्ष्यामि यच्च व्यासेन भाषितम्।
यस्मिनृक्षे स्थितो भानुस्तदादौ त्रीणि मस्तके।।

चतुष्कमग्रपादे स्यात् परश्चत्वारि पश्चिमे।
पृष्ठे च त्रीणि ऋक्षाणि दक्षकुक्षौ चतुष्ककम्।।

पुच्छे चत्वारि ऋक्ष्माणि कुक्षौ चत्वारि वामतः।
मुखे भत्रयमेव स्युरष्टाविंशति तारकाः।।

---

1. Vastu, Astrology and èk Architecture (cited above), p. 19

शिरस्ताराग्निदाहाय गृहोद्वासोऽग्रपादयोः।
स्थैर्यं स्यात् पश्चिमे पादे पृष्ठे चैवं धनागमः।।

कुक्षौ स्यात् दक्षिणे लाभः पुच्छे स्व स्वामिनाशनम्।
वामकुक्षौ च दारिद्र्यं मुखे पीड़ा निरन्तरम्।।

पुनर्वसौ नृपादीनां कर्त्तव्यं सूतिकागृहम्।
श्रवणाभिजितोर्मध्ये प्रवेशं तत्र कारयेत।।

चरलग्ने चरांशे च सर्वथा परिवर्जयेत्।[१]

उक्त व्यवस्था के अनुसार सूर्य नक्षत्र से प्रारंभ करके २८ नक्षत्रों की वास्तु पुरुष के शरीर पर निम्नानुसार स्थिति तथा उसके निम्नानुसार परिणाम हैं–

वास्तु पुरुष का अंग	सूर्य से नक्षत्र संख्या	परिणाम
मस्तक	प्रथम तीन नक्षत्र	अग्निदाह (नेष्ट)
अग्रपाद	४ से ७	गृहोद्वास (अशुभ)
पृष्ठपाद	८ से ११	स्थैर्य (शुभ)
पृष्ठ	१२ से १४	धनागम (शुभ)
दक्षिण कुक्षि	१५ से १८	लाभ (शुभ)
पुच्छ (मेरूदण्ड का छोर)	१९ से २२	स्वामिनाश (अत्यन्त नेष्ट)
वाम कुक्षि	२३ से २५	दारिद्र्य (नेष्ट)
मुख	२६ से २८	पीड़ा (नेष्ट)

लग्नभाव से कालपुरुष के भी ये ही अवयव हैं जो भाव के रूप में हैं। १२ भाव होने से २७ नक्षत्र १२ अंगों में विभाजित हैं–

---

१. विश्वकर्मप्रकाश II. १२ से १७ पृ० ४६.४७

शिरोवक्त्रोरोहृज्जठरकटि बस्तिप्रजनन
स्थलान्यूरू जान्वोर्युगलमिति जंघे पदयुगम्।
विलग्नात्कालांगन्यलिझषकुलीरान्तिमामिदम्
भसन्धिर्विख्याता सकलभवनान्तानपि परे[1]।।

इसी प्रकार नौ ग्रहों की स्थिति कालपुरुष तथा वास्तुपुरुष के शरीर में एक सी है तथा उसका मिलान गृह क्षेत्र से अभिन्यास से भी होता है।[2]

आयादि मेलापन वास्तुशास्त्र का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है और यह विवाह के लिये ठीक वर-वधू के गणवर्ग मिलान जैसा ही है।

आयादि चक्र[3]

गुणक भाजक

			१	२	३	४	५	६	७	८
९	(८)	आय	ध्वज	धूम्र	सिंह	शुनक	वृषभ	रासभ	गज	काक[4]
			(पू)	(अ)	(द)	(नै)	(प)	(वा)	(उ)	(ई)
९	(७)	वार	रविवार आदि सात							
६	(९)	अंश	(इन्द्र, यम, राजा)							

---

१. फलदीपिका : मन्त्रेश्वर : व्याख्या: पं गोपेश कुमार ओझा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७५, (१-४) पृ० १९
2. Vastu, Astrology and Architecture (cited above) p. 154-155
३. आयर्क्ष व्यय तारकांशक विधून, राशि ग्रहाद्यं तथा
धान्यं सौख्य यशोभिवृद्धिरधिका यस्मादत: कथ्यते
आयास्तु ध्वजधूम सिंह शुनका गोरासभेभा: क्रमात्
ध्वांक्षस्त्वष्टम आयकेषु विषमा: श्रेष्ठा: सुराणां गृहे
राजवल्लभ मण्डन : श्री सूत्रधार मण्डन विरचित: सम्पा. डॉ० शैलजा पाण्डेय, चौखम्बा सुरभारती वाराणसी, २००१, पृ० ३७, अध्याय ३, श्लोक १
४. ध्वजो धूम्रो हरि: श्वा गौ: खरेभौ वायसोऽष्टम:
पूर्वादि दिक्षु चाष्टानां ध्वजादीनामपि स्थिति:
विश्वकर्मप्रकाश, सम्पा. मातृप्रसाद पाण्डेय, सं० २०४४, पृ० २५, अध्याय-२, श्लोक ५२

८	(१२)	द्रव्य	
३	(७)	ऋण	
८	(२७)	ऋक्ष	अश्विन्यादि २७
८	(१५)	तिथि	प्रतिपदादि १५
४	(२७)	योग	विष्कुम्भ आदि २७
८	(१२०)	आयु	

व्यय	यक्ष, पिशाच, राक्षस							
चन्द्र	अश्विन्यादि त्रयं मेष इत्यादि							
मेलापन	१	२	३	४	५	६	७	८
	वर्ण	वश्य	तारा	योनि	ग्रहमैत्री	गणमैत्री	भकूट	नाड़ी[1]
गृहवर्ग	१	२	३	४	५	६	७	८
	ध्रुव	धान्य	जय	नन्द	खर	कान्त	मनोरम	सुमुख
	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	दुर्मख	उग्र	रिपुद	वितद	नाश	आक्रद्र	विपुल	विजय[2]
पशुवर्ग	गरुड़	बिल्ली	सिंह	श्वान	सर्प	मूषक	मृग	मेष[3]

---

१. वर्णो वश्यं तथा तारा योनिश्च ग्रहमैत्रकम्
गणमैत्रं भकूटं च नाडी चैते गुणाधिका:
तदेव पृ० ११६, अध्याय ६ (विवाह प्रक०) श्लोक २१

२. ध्रुवधान्यौ जयनन्दौ खरकान्तमनोरमं सुमुखदुर्मुखोग्रंच
रिपुदं वित्तदं नाशं चाक्रन्दं विपुल विजयाख्यं स्यात्
– मुहूर्त चिन्तामणि: सम्पा: विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा वाराणसी, १९९०, अध्याय १२ (वास्तु प्रकरण) श्लोक १०, पृ० २०५

३. अकचटपयशवर्गा: खगेशमार्जारसिंह शुनाम्
सर्पाऽऽखुमृगावीनां निजपंचमवैरिणामष्टौ
मुहूर्त चिन्तामणि (ऊपर अद्धृत) (VI-37) पृ० १२७

(अ) (क) (च) (ट) (त) (प) (य) (श)

मुख्य बात यह है कि आय, व्यय, आयु आदि को छोड़कर गृहक्षेत्र के नक्षत्र तथा चन्द्रमा का मिलान ठीक उसी तरह किया जाता है जैसे विवाह के समय युवक युवती का। विश्वकर्म प्रकाश लिखता है–

राशिकूटादिकं सर्वम् दम्पत्योरिव चिन्तयेत्[१]।
नैः स्वं द्विर्द्वादशे नूनं त्रिकोणे हयनपत्यता।। आदि

तथा–

विपत्प्रदा विपत्तातारा प्रत्यरिः प्रतिकूलदा।
निधनाख्या तु या तारा सर्वथा निधनप्रदा[२]।।
वैधृतिः सर्वनाशाय नक्षत्रैक्ये तथैव च।
नाडी वेधो न शुभदस्तारा रोग भय प्रदा[३]।।

गृह क्षेत्र से मेलापन तथा लड़के लड़की से मेलापन में केवल दो अन्तर हैं। एक तो विवाह मेलापन में चरण भेद से एक ही नक्षत्र ग्राह्य हो जाता है जबकि गृह निर्माण में वह सर्वथा त्याज्य है। दूसरे विवाह के निमित्त मेलापन में भिन्न नाड़ी प्रशस्त होती है जबकि गृह-निर्माण में भिन्न नाड़ी अच्छी नहीं मानी जाती। एक ही प्रशस्त होती है।[४] इस प्रसंग में चाहे आप मुहूर्त ग्रन्थ पढ़े या वास्तु ग्रन्थ दोनों में पूर्ण साम्य देखा जो वास्तु तथा ज्योतिर्विज्ञान के अनन्य अन्तः सम्बन्ध का सबसे सशक्त प्रमाण है। गृह निर्माण के संदर्भ में नक्षत्र से चन्द्रानयन की पद्धति भी भिन्न है और केवल ऐसा नहीं है कि वास्तु शास्त्र के आचार्यों ने ही ऐसा स्वीकार किया हो। अपितु स्वयं सूत्रधार स्थपतियों ने भी इसे स्वीकार किया है। विश्वकर्मप्रकाशकार ने तथा सूत्रधारमण्डन दोनों ने ही नक्षत्रों से राशि लाने की उस विधि को स्वीकार किया है जो वेदकाल में थी तथा जिसके आधार पर नक्षत्र राशियों का

---

१. विश्वकर्मप्रकाश (ऊपर उद्धृत) (II-77) पृ० २८
२. वही, (II-29) पृ० २९
३. वही, (II-90) पृ० ३०
४. यथादम्पती राशिवर्णादिचिन्त्यम् तथागारगेहेशयोर्वैविचारम्।
परन्त्वत्र नाडी विलोमा प्रशस्ता सुधीभिर्विचार्याधराधीश पूज्याः।। (श्लोक-७२)
वास्तु माणिक्य रत्नाकरः सम्पा. पं. रामतेज पाण्डेय, बाबू बैजनाथ प्रसाद, वाराणसी, सं० २०४०, पृ० २१

वास्तविक सम्बन्ध आकाश में दिखाई देता है। इस विधि में वे नक्षत्रों के पाद नहीं बनाते अपितु पूर्ण नक्षत्रों के आधार पर राशियों से सम्बन्ध स्थापित करते हैं। यह पद्धति वेदांग ज्योतिषकाल में थी–

> **अश्विन्यादित्रयं मेषं सिंहे प्रोक्तं मघात्रयम्।**
> **मूलादित्रितयं चापे शेषराशिद्विकेद्विके।।**[१]

> **मेषोऽश्वित्रितये हरिस्तु पितृभाच्चापत्रयेमूलतः।**
> **शेषे स्युर्नवराशयोऽपरमते नन्दांशकैस्ते पृथक्।।**[२]

अर्थात्–

आश्विनी, भरणी, कृतिका = मेष, रोहिणी, मृगशीर्ष = वृष, आर्द्रा, पुनर्वसु = मिथुन, पुष्य आश्लेषा = कर्क, मघा पूफा. उफा. = सिंह, ह.चि. = कन्या, स्वा.वि. = तुला, अ.ज्ये. = वृश्चिक, मूल पूषा. उषा = धनु, श्र.ध. = मकर, श.पूभा = कुम्भ, उभा.रे. = मीन,

संक्षेप में आयादि का आनयन प्रकार इस तरह है–

(i) आयादि – मानलो क्षेत्र का विस्तार ३५ हाथ, तथा दैर्घ्य (लम्बाई) = ४०.७१४ हाथ[३] (४० हाथ १७ अंगुल ५ यव) क्षेत्रफल = १४२५ वर्ग हस्त है इस पिण्ड में आयादि के गुणांकों (जो उनके पास लिखे हैं) से यादि की संख्या से भाग देकर जो शेष बचे वे ही क्रमशः आयादि ९ मान होते हैं।[४]

१. आय = $\frac{१४२५\times९}{८}$ = १६०३ लब्धि, शेष १ ध्वज आय

२. वार = $\frac{१४२५\times९}{७}$ = १८३२ लब्धि, शेष १ रविवार

---

१. विश्वकर्मप्रकाश, (II-82) पृ० २९

२. राजवल्लभ मण्डन (ऊपर उद्धृत) (III-12) पृ० ४२

३. मुहूर्त चिन्तामणि (ऊपर उद्धृत) पृ.२०२/२०३ श्लोक (XII-3,4)

४. पिण्डेनवांकागगजाग्निनागनागाब्धिनागै र्गणिते क्रमेण
विभाजिते नागनगांकसूर्यनागर्क्षतिथ्यृक्ष ख भानुभिश्च
आयो वारोंशको द्रव्यमृणमृक्षं तिथिर्युतिः
आयुश्चाथ गृहेशर्क्षं गृह भैक्य मृतिप्रदम् (मु.चि. XII-12), पृ० २०५/२०६

३. अंश = १४२५×६ / ९ = ९५० लब्धि, शेष ० अथवा ९ अंश राजा

४. द्रव्य = १४२५×८ / १२ = ९५० लब्धि, शेष ० अथवा १२ द्रव्य

५. ऋण = १४२५×३ / ७ = ५३४ लब्धि, शेष ३ ऋण

६. ऋक्ष = १४२५×८ / २७ = ४२२ लब्धि, शेष ६ नक्षत्र

७. तिथि = १४२५×८ / १५ = ७६० लब्धि, शेष ० अथवा १५ तिथि

८. योग = १४२५×४ / २७ = २११ लब्धि, शेष ३ योग

९. आयु = १४२५×८ / १२० = ९५ लब्धि, शेष ० अथवा १२० आयु

(ii) इस पद्धति की एक विशेषता यह है कि वांछित नक्षत्र तथा वांछित आय को ध्यान में रखकर इष्ट क्षेत्र फल निकाला जा सकता है फिर आपके भूखण्ड की जो चोड़ाई या लम्बाई जो अपरिवर्तनीय है उससे भाग देकर भूखण्ड की दूसरी भुजा (लम्बाई या चौड़ाई) निकाली जा सकती है। उससे उक्त सभी तत्व तथा गुण-मिलान सिद्ध हो जाते हैं।

पिण्डानयन—व्यक्ति अपने नाम नक्षत्र के अनुसार शुभ नक्षत्र का पहिले निर्धारण कर सकता है तथा गुण मेलापक कोष्ठक से उस नक्षत्र के कितने गुण मिलते हैं यह भी देख सकता है। शुभ आय भी पहिले से तय कर सकता है। उसके आधार पर गृह का क्षेत्रफल निर्धारित किया जा सकता है। यह एक महत्वपूर्ण विपरीत प्रक्रिया है। इससे सभी आयादि नौ साधन अपने आप सध जाते हैं। यह जैसे अपनी इच्छा अनुसार लड़के का चयन होता है वैसे ही क्षेत्रफल का चयन भी है।

शुभ नक्षत्र[१]–आर्द्रा से पू.फा. ६ तथा शत. पूभा.उभा. के सहित = ९ नक्षत्र।

मध्यम–कृत्तिका, रो.मृ. तथा उ.फा. से पूषा. रे.अ.भ. = १५ नक्षत्र

शेष (नेष्ट)–उत्तराषाढा, श्रवण धनिष्ठा = ३ नक्षत्र

इसी प्रकार श्रेष्ठ आय का भी विचार कर लें अपने भूखण्ड का संभावित मुख देखकर। **विधि**–इष्ट नक्षत्र की संख्या में से १ घटाकर शेष को १५२ से गुणा करें तथा इष्ट आय की संख्या में से १ घटाकर ८१ से गुणा करें। दोनों गुणनफलों के योग में १७ जोड़कर २१६ से विभाजित करें। जो शेष बचे वही इष्ट नक्षत्र ओर इष्टाय से उत्पन्न पिण्ड (क्षेत्रफल) होता है। पिण्ड में लम्बाई या चौड़ाई का भाग देकर दूसरी भुजा आ जाती है। पिण्ड में ८ का भाग देने से शेष आय का नाम क्रमशः १ ध्वज, २ धूम आदि होते हैं।[२] पिण्ड में २१६ या उसका गुणक जोड़कर बड़ा क्षेत्रफल निकाल सकते हैं।

$$\text{वांछित क्षेत्रफल} = \frac{[\{(\text{नक्षत्र संख्या} - १) \times १५२\} + \{(\text{आय} - १) \times ८१\}] + १७}{२१६}$$

(iii) व्यय–नक्षत्र की संख्या में ८ का भाग देने से जो शेष बचे वही व्यय होता है।

नक्षत्रे वसुभिर्व्ययो विभजिते हीनस्तु लक्ष्मीप्रदः।
तुल्यायश्च पिशाचको ध्वजमृते संवर्धितो राक्षसः[३]।।

(iv) अंश–गृह के क्षेत्रफल में व्यय तथा ध्रुवादि गृह के नामाक्षर संख्या जोड़कर ३ का भाग देने से अंश का ज्ञान होता है। शेष यदि १ हो तो इन्द्र, २ हो तो यम तथा ३ हो तो राजा संज्ञक अंश होता है।[४]

(v) ध्रुवादि आनयन– पूर्व में गृह द्वार – शाला ध्रुवांक १

---

१. मुहूर्त चिन्तामणि (ऊपर उद्धृत) पृ० २०२
२. विश्वकर्मप्रकाश, (II-51-52) पृ० २५
३. राजवल्लभ मण्डन (III-8) पृ० ४०
४. वही, (III-9) पृ० ४१

दक्षिण में द्वार – शाला ध्रुवांक २

पश्चिम मे द्वार – शाला ध्रुवांक ४

उत्तर में द्वार – शाला ध्रुवांक ८

जिस-जिस दिशा में द्वार बनाना हो उस उस दिशा में शाला ध्रुवांको के योग में १ जोड़ देने से जो अंक हो वही धुव्रादि नाम उस गृह का होता है।[1] जैसे पूर्व + पश्चिम + उत्तर द्वार = 1 + 4 + 8 = 13 + 1 = 14 आक्रन्द गृह हुआ।

(vi) राशि–(चन्द्र स्थिति)

धिष्ण्यानीह च सप्तशः क्रमतया वह्नेस्तु पूर्वादितः
सृष्ट्या तानि भवन्ति यत्र गृहभं तत्रैव चन्द्रो भवेत्।
हानि पृष्ठगतः करोति पुरतस्त्वायुः क्षतिं चन्द्रमाः
पार्श्वे दक्षिण वामके शुभ करोऽग्रे भूपदेवालयोः[2]।।

प्रथमतः कृत्तिकादि नक्षत्र ७-७ बार लिखना चाहिये। इस प्रकार पूर्व, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर दिशा में ७-७ नक्षत्र होंगे। गृह का नक्षत्र जिस भाग में पडे, चन्द्रमा की स्थिति उसी नक्षत्र पर कही जाती है।

इस प्रकार आयादि मेलापन में वास्तु शास्त्र तथा ज्योतिर्विज्ञान की प्रक्रिया लगभग एक सी है। इसके अतिरिक्त नगर या ग्राम के नाम के चयन के समय गृहपति की नाम राशि तथा नगर की नाम राशि का मिलान ठीक ज्योतिर्विज्ञान की प्रक्रिया से होता है। मुहूर्त के सिद्धान्त चाहे वह गृहारंभ का मुहूर्त हो, चाहे भूमिखनन चाहे द्वार स्थापन या गृह प्रवेश किंचित वैशिष्ट्य के साथ वे ही हैं जो ज्योतिर्विज्ञान में हैं। और सबसे अन्त में दोषों के मार्जन तथा शान्ति की प्रक्रिया पूजन, हवन विधान तो एक जैसे हैं ही। विस्तार भय से उक्त साम्यों के केवल एक-एक उदाहरण देना चाहूँगा–

(i) नगर या ग्राम से सन्दर्भ में चयन–(कहाँ वास न करें)

---

१. मुहूर्त चिन्तामणि, (XII-8,9) पृ० २०५
२. राजवल्लभ मण्डन (III-11) पृ० ४१-४२

पूर्व (East)

N.E. (ई.)	११ (कुम्भ)	८ (वृश्चिक)	१२ (मीन)	S.E. (अ.)
उत्तर (North)	१ (मेष)	२,३,५,१० वृष, मिथुन, सिंह मकर केन्द्रम् (Centre)	६ (कन्या)	दक्षिण (South)
N.W. (वा.)	७ (तुला)	९ (धनु)	४ (कर्क)	S.W. (नै.)

पश्चिम (West)

यदा त्वेक भे सप्तमे चैव ग्रामे तदा वैरमाहुः त्रिषष्ठे च हानिः।
चतुर्थाष्टरिष्फे भवेद् रोगमृत्युः शुभं शेषभावे भवेद् भूमिदेवाः[१]।।

यद् भं द्वयंकसुतेशदिङ्. मितमसौ ग्रामः शुभो ग्रामभात्[२]

(ii) मुहूर्तः गृहारंभ शुभ सौर मास, शुभ नक्षत्र, शुभवार तथा शुभ तिथि में होना चाहिये।

(अ) गृहेशतः स्त्री सुखवित्तनाशोऽर्केन्दोज्यशुक्रे विवलेऽस्तनीचे।
कर्तुः स्थितिर्नो विधुवास्तुनोर्भे पुरः स्थिते पृष्ठगते खनिः स्यात्[३]।।

(आ) गृहारंभ हेतु शुभ मास–
भौमार्किचन्द्रगेहेऽर्के गृहारम्भः शुभप्रदः
शुक्रग्रहे स्वगेहस्थे दिवानाथे हि मध्यमः।
बुधे वाचस्पतिगृहे रवौ गेहं न कारयेत्
वैशाखे वृषभेऽर्केऽपि चोत्तमं चाश्विने तुले।।[४]

जब सूर्य चन्द्रमा, शनि तथा मंगल के घर (४, १०, ११, १, ८ राशियों) में हो तो श्रेष्ठ। शुक्रगृह (२,७) तथा स्व गृह (५) में मध्यम तथा बुध (३,६) गुरू (९,१२) गृह में अर्थात्

१. वास्तुमाणिक्य रत्नाकर श्लोक ६, पृ० २ चक्र पृ० ३/४
२. मुहूर्त चिन्तामणि,(XII-1) पृ० २००
३. वही, (XII-6) पृ० २०३
४. वास्तुमाणिक्य रत्नाकर ११०-१११, पृ० ३५

द्विस्वभाव राशियों में नेष्ट होता है। विवाह में भी धनुमीन राशियाँ वर्ज्य है किन्तु वहां चातुर्मास वर्ज्य होने के कारण शेष संक्रान्तियाँ ग्राह्य हैं। यहां भी पांच संक्रान्तियां ही ग्राह्य हैं। चान्द्र मासों की स्थिति यह है कि यदि उन मासों में उक्त श्रेष्ठ संक्रान्तियां पड़ती हैं तो ग्राह्य हैं अन्यथा नहीं। जैसे पौष, माघ तथा फाल्गुन में यदि मकर का सूर्य है तो उसी सीमा तक ग्राह्य है। यह पुरानी परम्परा का निर्देश है–

पौषे माघे तपस्ये च मकरेऽर्के शुभप्रदः।
चैत्रे कुम्भे च मेषस्थे दिवानाथे गृहं शुभम्[१]।।

इसका अर्थ है कि कभी फाल्गुन में भी मकर का सूर्य होता था तथा कभी चैत्र में भी कुम्भ का सूर्य था। अन्य मासों की भी यही स्थिति है। आश्विन में सिंह संकान्ति तथा माघ में धनु सर्वथा वर्ज्य है। विवाह की छः संक्रान्तियों में से केवल मिथुन इसमें नहीं है। कर्क अतिरिक्त है।[२]

(इ) गृहारंभ के नक्षत्र
रोहिण्यां त्र्युत्तरे पुष्ये मृगे मैत्रे करत्रये।
वसुद्वये हि रेवत्यां गृहारम्भ सुखप्रदः।।[३]

रोहिणी, तीनों उत्तरा, स्वाती, मृग, अनुराधा, हस्त, रेवती, पुष्य, चित्रा, धनिष्ठा, शतभिषा विवाह के ११ नक्षत्र होते हैं। उसमें से प्रथम ९ वे ही नक्षत्र हैं। इसमें १३ नक्षत्र हैं–पुष्य, चित्रा, धनिष्ठा और शतभिषा अलग हैं।

(उ) अन्य मुहूर्त के सिद्धान्त
कुयोगास्तिथिवारोत्थास्तिथिभोत्था भवारजाः।
विवाहादिषु ये वर्ज्यास्ते वर्ज्या वास्तुकर्मणि।।[४]

पापैस्त्रिषष्ठायगतैः सौम्यैः केन्द्रत्रिकोणगैः।
निर्माणं कारयेद् धीमान् अष्टमस्थैर्खलैर्मृतिः।।[५]

---

१. वहीं पृ० ३५, श्लोक ११२
२. मुहूर्त निन्तामणि, (VI-13) पृ० ११३
३. वा.मा.र ११७
४. वि.प्र. III-11
५. वि.प्र. III-19

ये सभी ज्योतिष के सामान्य स्वीकृत सिद्धान्त हैं। अष्टम गृह खाली रहना चाहिये। अष्टम में पाप ग्रह तो एसे लग्न में गृहारम्भ मुहूर्त्त होना ही नहीं चाहिये।

वास्तु पूजन तथा शान्ति–

सभी वास्तु ग्रन्थों तथा सभी ज्योतिष ग्रन्थों में वास्तु शान्ति तथा ग्रह शान्ति के उपाय पूजन द्वारा बताये गये हैं जो लगभग समान हैं। सूत्रधार मण्डन विरचित राजवल्लभ मण्डन के दूसरे अध्याय के श्लोक २६ से ३९ तक का अंश वास्तुपूजन के लिये समर्पित है तथा सूत्रधार कहता है कि–

'अकपाटमनछिन्नम् दत्तबलिभोजनम्।
गृहं न प्रविशेद्धीमान् विपदामाकरं तु तत्[१]।।

सारांश यह है कि वास्तुशास्त्र तथा ज्योतिर्विज्ञान का घनिष्ठ अन्तः सम्बन्ध है तथा वे एक दूसरे के पूरक हैं तथा उनमें से किसी एक के ज्ञान के बिना दूसरी विद्या का ज्ञान अधूरा है। कोई भी ज्योतिर्विद् तब तक अपने को पूर्ण नहीं पाता जब तक उसे वास्तु शास्त्र का भी ज्ञान न हो तथा कोई भी वास्तुविद् ज्योतिष के ज्ञान के बिना अपूर्ण है। इसी बात को ध्यान में रखकर ज्योतिर्विद् शिरोमणि वराह मिहिर ने वास्तुविद्याऽध्याय के प्रारंभ में लिखा है–

वास्तुज्ञानमथातः कमलभवान्मुनिपरम्परायातम्।
क्रियतेऽधुना मयेदं विदग्धसांवत्सरप्रीत्यै[२]।।

भट्टोत्पल ने विदग्ध सांवत्सर का अर्थ 'पण्डितदैवज्ञानां' किया है । सचमुच बिना वास्तुज्ञान के 'दैवज्ञ' पण्डित नहीं हो सकता है। यहाँ गृह एवं गहेश की गुणबोधक सारिणी दी जा रही है जिससे सरलता से यह जाना जा सकता है कि कौन सा नक्षत्र अधिक शुभ होगा। यथा–

---

१. रा.वा.म. II-39
२. बृहत्संहिता : वराह मिहिर (भट्टोत्पल की टीका) द्वितीय भाग वाराणसेय संस्कृत वि.वि. १९६८ (शक १८९०) ५२/१, पृ० ५६७

गुणबोधकचक्र

राशि	गृहेश नक्षत्र	गृहनक्षत्रगुणसंख्या							
		न.	गु.	न.	गु.	न.	गु.	न.	गु.
मेष	अ.	आ.	२७	पु.	२९।।	पू.भा.	२६	उ.फा.	२६।।
	भ.	पू.फा.	२७	पू.षा.	२८	पुण्य	२८।।	पू.भा.	२३।।
	१ कृ.	स्वा	२५	वि	२८।।	श्ले.	२७।।	म.	२५।।
वृष	३ कृ.	म.	२६	रो.	२९	स्वा	२०।।	वि.	२३।।
	रो.	स्वा	२४।।	श्र.	२५	पू.+भा.	२५	उ.षा.	१९।।
	२ मृ.	पू.फा.	२५।।	चि+	२०	ध.+	२१	अनु.	२७।।
मिथुन	२ मृ.	पू.फा.	२५।।	पू.भा.	२७	भ.	२५	उ.भा.	२४।।
	आ.	अश्विनी	२५	उ.फा.	३१।।	ह.	३१।।	पू.भा.	२५
	३ पु.	अश्विनी	२६	उ.फा.	३१।।	ह.	३१।।	आ.	३२।।
कर्क	१ पु.	अश्विनी	२८।।	उ.फा.	२७।।	ह.	२७	पू.भा.	२१
	पु.	भ.	३१।।	मृ.	२५	चि+	२०	ध.+	२१
	श्ले.	कृ.	३१।।	स्वा	२३	वि	२७	श्र.	२३
सिंह	म.	रो.+	२०।।	स्वा	२१।।	वि.	२९।।	श्ले.	२३
	पू.	मृ.	२८।।	भ.	३२।।	चि.	२०।।	अनु.	२८।।
	उ. १	आ.	३०।।	पु.	२९।।	पू.भा.	२५।।	अ.	२४
कन्या	उ. ३	आ.	३२।।	पु.	३१।।	हस्त	३२।।	पू.भा.	२३
	ह.	आ.	३२।।	पु.	३२।।	मू.	२१	उ.फा.	२५
	चि २	मृ. +	२१+	पू.+षा	२०	ध.	२४।।	उ.भा.	२४।।
तुला	चि २	मृ. +	१८	पू.+षा	२०	ध.	३१।।	भ.	२२।।
	स्वा	उ.षा.	२७	श्र.	३१।।	कृ.	२३।।	रो.	२३।।
	वि ३	+उ.षा	२०	श्र.	२५।।	कृ.	२७।।	स्वा	२७
वृश्चिक	वि १	रो.+	२४।।	भ.	३२।।	श्र.	२२	श्ले.	२३।।
	अ.	मृ.	३०	पू.फा.	३२।।	चि +	१९	ध.	२२
	ज्ये.	उ.+फा.	३१।।	ह.	२४।।	श.	२७	अ.	२०

राशि	गृहेश--नक्षत्र	ग्रह नक्षत्रगुणसंख्या च							
		न.	गु.	न.	गु.	न.	गु.	न.	गु.
धनु	मू.	पु.	२४	ह.	२२	श.	३०।।	आ.	२४
	पू.	भ.	२७	पू.फा.	२७	उ.भा.	३०।।	चि.	२२
	उ. १	स्वा	२६	श्र.	२३	रे.	३०।।	कृ.	२२।।
मकर	उ. ३	कृ. +	२३।।	स्वा	३०।।	श्र.	३२।।	रे.	२८।।
	श्र.	कृ. +	१९।।	स्वा	३१।।	रो.	२६	रे.	२८।।
	ध. २	मृ.	२१	चि.	२६	उ.भा.	२४	पु.	२०
कुम्भ	ध. २	मृ.	२७	पू.फा.	२६	पू.षा.	२२।।	चि.	२४।।
	श.	आश्वि.	२३	मू.	२९।।	आ.१९	उफा२०।।	पू.भा.२७	
	पू.	अ.	२४	उ.फा.	३२।।	आ.	२४।।	श.	२७
मीन	पू.	आ.	२७	पुन.	२७।।	ह.	२७	मू.	२८
	उ.	मृ.	२५	पू.षा.	३१।।	पु.	२५	भ.	२५।।
	रे.	रो.	२७	उ.षा.	३५	श्ले.	२०	श्र.	३०।।

वास्तुशास्त्र में पदविन्यास परिकल्पना

प्रो० रामचन्द्र झा

वस निवासे धातु से तुन् प्रत्यय करने पर वास्तु शब्द बनता है। इसका अर्थ है वसन्ति लोका अत्र। अर्थात् वास्तु उसे कहते हैं जहाँ लोग निवास करते हैं। अमरकोश में भी कहा गया है–वेश्म-भूर्वास्तुस्त्रियाम्। अर्थात् जिस स्थान पर घर बनाकर लोग रहते हैं उस स्थान को वास्तु कहते हैं। इसे वासडीह, घरारी, निवास स्थान, वासभूमि, आवासस्थल आदि नाम से भी जाना जाता है। यहाँ वास्तु के अन्तर्गत पशुगृह, पक्षीगृह, देवगृह, व्यावसायिक गृह आदि भी लिया जाता है।

लोककल्याणार्थ वासभूमि को अधिक से अधिक सुखद, प्रसन्नतादायक एवं सुन्दर बनाने की दृष्टि से वास्तुशास्त्र के अन्तर्गत इसके विभिन्न विधाओं पर विचार किया गया है। यथा–वासयोग ग्राम विचार, दिग्भेदेन वस्तुभेदेन गृहविचार, जलसाधनविचार, द्वारविचार, प्राङ्गणविचार, मार्गविचार, भूमिशोधन एवं शुभाशुभ परीक्षण, गृहारम्भ एवं गृहप्रवेश मुहूर्त्त, पाकालय शौचालयादि विचार पदविन्यास तथा वास्तुपूजा विचार एवं वास्तुशान्ति विचार आदि।

यद्यपि उपर्युक्त सभी विषयों का प्रत्यक्ष तथा परोक्ष–दोनों ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण स्थान है। किन्तु इनमें भी पद विन्यास का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

भगवान् शिव और अन्धकासुर के युद्ध के समय भगवान् शंकर के शरीर से पृथ्वी पर स्वेद (पसीना) गिरा। उस स्वेद से सहसा एक अद्भुत प्राणी की उत्पत्ति हुई जिससे पृथ्वी एवं स्वर्ग–दोनों स्थानों में महान् भय व्याप्त हो गया। एकाएक ऐसी स्थिति देखकर देवताओं ने उस अद्भुत प्राणी को पकड़कर अधोमुख करके पृथ्वी पर रख दिया तथा उन्होंने (देवताओं ने) उसे (अद्भुत प्राणी) वरदान दिया कि–आज से आप वास्तुपुरुष के नाम से सर्वत्र विदित होंगे और वास्तुकर्म में आपकी पूजा होगी। इस पूजा के फलस्वरूप लोगों का सर्वथा कल्याण होगा। जो वास्तुकार्य में आपकी पूजा नहीं करेंगे उसकी सर्वथा हानि होगी। देवताओं के इस वरदान के फलस्वरूप वे अद्भुत प्राणी कल्याणकारक तथा वास्तुपुरुष के नाम से प्रसिद्ध हुए। यथा–

सङ्ग्रामेऽन्धकरुद्रयोश्च पतितः स्वेदो महेशात् क्षितौ
तस्माद्भूतमभूच्च भीतिजननं द्यावा पृथिव्योर्महत्।
तद्देवैः सहसा निगृह्य निहितं भूमावधोवक्त्रकं
देवानां वचनाच्च वास्तुपुरुषस्त्रेनैव पूज्यो बुधैः[१]।।

भवनपुरसुराणां सूत्रयो पूर्वमुक्तः
कथित इह पृथिव्याः शोधने च द्वितीयः।
तदनुमुखनिवेशे स्तम्भतिरोपणे स्याद्
भवनविशनकाले पञ्चधा वास्तुयज्ञः[२]।।

पासादे भवने तडागखनने कूपे च वाप्यां वने
जीर्णोद्धारपुरेषु यागभवनप्रारंभ निवर्त्तने।
वास्तोः पूजनकं विधाय कथितं पूजा विना हानये
तस्माद्यत्नपरेण तत्करजतः संपूजनीयः सता[३]।।

निर्माणे मन्दिराणाञ्च प्रवेशे त्रिविधेऽपि वा।
वास्तुपूजा तु कर्त्तव्या यस्मात्ता कथयाम्यतः।।
एवं यः कुरुते सम्यग्वास्तुपूजां प्रयत्नतः।
आरोग्यं पुत्रपौत्रादि धनधान्यं लभेन्नरः।।

वास्तुपूजामकृत्वा यः प्रविशेन्नवमन्दिरे।
रोगान्नानाविधान्क्लेशानश्नुते सर्वसङ्कटम्[४]।।

यः पूजयेद्वास्तुमनन्यभक्त्या न तस्य दुःखं भवतीहि किञ्चित्।
जीवत्यसौवर्षशतं सुखेन स्वर्गे नरस्तिष्ठति कल्पमेकम्।।

वास्तुपूजाविहीनश्च सूत्रधारैर्विना तथा।
सप्तजन्म भवेत्कुष्ठी सकर्त्ता नरकं व्रजेत्[५]।।

---

१. वास्तुरत्नावली पृ० ४५
२. वास्तुराजवल्लभ १।२७
३. वास्तुरत्नावली पृ० ४५
४. मु० चिन्तामणि (१३।३) पीयूषधारा
५. वास्तुरत्नाकर, ११।६७-६८

अकपाटमनाच्छन्नमदत्तबलिभोजनम्।
गृहं न प्रविशेदेवं विपदामाकरं हि तत्[१]।।

उक्त वास्तुपुरुष के जिस अङ्ग को जो देवता पकड़कर पृथ्वी पर अधोमुख किया, वे देवता वास्तुपुरुष के उस अङ्ग में पूज्य हुए। अतः इन अङ्गदेवताओं के साथ-साथ वास्तुदेव का पूजाविधान किया गया है। इन देवताओं की पूजा हेतु पद (स्थान) का विन्यास किया गया है। यथा–एकोनपञ्चाशत्पद, चतुष्षष्टिपद्, एकाशीतिपद, शतपद, चतुश्चत्वारिंशदधिकशतपद्, एकोनसप्तत्यधिकशतपद तथा षण्नवत्यधिकशतपद आदि।

वास्तुशास्त्र में यह भी कहा गया है कि एकांश से लेकर सहस्रभाग का वास्तुपुरुष का पद होता है तथा क्षेत्राकृति की तरह वास्तुपुरुष की आकृति होती है।

इस क्रम में गृह देवमन्दिर, नगर आदि के भेद से भिन्न-भिन्न पद वाले वास्तुदेव की पूजा करने का निर्देश भी प्राप्त होता है। यथा–नगरनिर्माण, ग्रामनिर्माण एवं राजप्रासादनिर्माण में ६४ पद वाले, सभी प्रकार के गृहनिर्माण में ८१ पद वाले तथा कूप, वापी, तड़ाग, वन एवं उद्यान तथा समस्त जलाशयनिर्माण में १९६ पद वाले वास्तुपुरुष की पूजा करनी चाहिए। यथा–

क्षेत्राकृतिर्वास्तुरिहार्यमीयस्त्वे कीशतो भागसहस्त्रयुक्तः।
साधारणोऽष्टाष्टिपदेषु तेषु चैकाचिकाशीतिपदस्तथैव[२]।।

गुणो भूपतिमन्दिरे च नगरे पूज्यश्चतुष्पष्टिकै-
रेकाशीतिपदैः समस्तभवने जीर्णे नवाब्ध्यंशकैः।
प्रासादेमतु शतीशकैस्तु सकले पूज्यस्तथा मण्डपे
कूपे षण्णवचन्द्रभागसहितेवाप्पी तडागे वने[३]।।

पदनिर्माणक्रम–पूवापर एवं याम्योत्तर अथवा खड़ी और पड़ी लम्बरूप आठ-आठ, नौ-नौ, दश-दश, ग्यारह-ग्यारह, तेरह-तेरह, चौदह-चौदह एवं पन्द्रह-पन्द्रह रेखाओं के खींचने से क्रमशः ४९, ६४, ८९, १००, १४४, १६९ एवं १९६ कोष्ठों का एक वर्गाकार क्षेत्र बनता है। इन क्षेत्रों में परस्पर रेखाओं की दूरी दो अंगुली अर्थात् समान होती है।[४] इन्हीं कोष्ठों में देवताओं की पूजा होती

---

१. वृहद्वास्तुमाला, गृहप्रवेशप्रकरण, श्लो० १९
२. वास्तुरत्नावली पृ० ४५-४६
३. वास्तुराजवल्लभः २।४
४. वर्षकृत्य द्वितीय भाग, गृहप्रवेशविधि, पृ० ३६ (म०म० रुद्रधर एवं मीमांसक जगद्धर झा)

है। चूँकि (८१ को छोड़) इन क्षेत्रों में आमने-सामने कोणगत रेखाएँ भी खींची जाती हैं। अतः अर्द्धपद एवं डेढ़ पद आदि में भी देवताओं की पूजा होती है। वास्तुशास्त्र में ये सभी चक्र सचित्र बने हुए हैं। उन्हें देखने से स्पष्टता प्रतीति होती है।[१] यहाँ केवल उदाहरण के लिये एकाशीति पदात्मक वास्तुचक्र का उल्लेख किया जाता है। क्योंकि पूर्वोक्त सभी कार्यों में वास्तुविदों ने इसकी प्रधानता बतलाई है–

८१ पदवास्तुचक्र

पूर्व

उत्तर (बायें) — दक्षिण (दायें)

ईश (शिखी)	पर्यन्यः	जयन्तः	इन्द्रः	सूर्यः	सत्यः	भृशः	आकाशः	अनलः (अनिलः)
दितिः	आपः	↓	↓	↓	↓	↓	सविता	पूषा
अदितिः	→	आपवत्सः	←	अर्यमा	→	सावित्रः	←	वितथः
भुजगः	→		↑	↑	↑		←	गृहक्षतः
कुबेरः	→	पृथ्वीधरः	ब्रह्मा	⟶		विवस्वान्	←	यमः
भल्लाटः	→		↓	↓	↓		←	गन्धर्वः
मुख्यः	→	राजयक्ष्मा	←	मित्रः	→	इन्द्रः	←	भृङ्गराजः
नागः	↑	↑	↑	↑	↑	↑	जयः	मृगः
रोगः	पापयक्ष्मा	शोषः	असुरः	वरुणः	पुष्पदन्तः	सुग्रीवः	दौवारिकः	पितरः

पश्चिम

१. वास्तुरत्नावली पृ० १८६-१९६ तक

६४ पदवास्तुचक्रः

शिखीः / दितिः	↑	जयन्तः	इन्द्रः	सूर्यः	सत्यः	↑	आकाशः / अनलः
अदितिः	पर्यन्यः / अदितिः	↓	↓	↓	↓	भृशः / पूषा	पूषा
भुजगः	→	आपवत्सः / आपः	अर्यमा		सविता / सावित्रः		वितथः
कुबेरः	→	पृथ्वीधरः	ब्रह्मा		विवस्वान्	←	गृहक्षतः
भल्लाटः	→					←	यमः
मुख्यः	→	रुद्रः / रुद्रदासः	मित्रः		इन्द्र / जयः	←	गन्धर्वः
नागः	नागः / शोषः	असुरः	वरुणः	पुष्पदन्तः	सुग्रीवः	भृंगराजः / दौवारिकः	→
रोगः / पापयक्ष्मा	शोषः	↓	↓	↓	↓	↓	मृगः / पितरः

८१ पद के बाद ६४ पद की भी महत्ता बतलायी गयी है। पद्धतिकारों ने भी इन दोनों पदों के आधार पर पूजा का निर्देश किया है। व्यवहार में भी यही स्थिति देखी जाती है।

उक्त पद हस्तमात्र परिष्कृत भूमि या विहित आसन पर आमतण्डुल विद्याकर समान दो-दो अंगुल की दूरी पर पश्चिम से पूरब की ओर उत्तरोत्तर क्रम से तथा दक्षिण से उत्तर की ओर पूर्वपश्चिम क्रम से ९ या दश रेखा (६४ पद या ८९ पद हेतु) खींचकर बनाना चाहिए। कुंकुम, चन्दन, सिन्दूर आदि की सहायता से सुवर्ण या रजतादि शलाका द्वारा दाहिने हाथ से रेखा खींचकर बनाया जाता है। प्रत्येक पद में विहित रीति एक, दो या तीन आदि पदों में अपने-अपने विहित रंग के अनुसार (रक्त, पीत, कृष्ण आदि वर्ण के अनुसार पूजा करने का विधान भी बतलाया गया है। वास्तुपूजा पद्धति में इन सभी विषयों का विधिवत् निर्देश दिया हुआ रहता है।

वापी, कूप, तड़ाग, सरोवर आदि का निर्माण

प्रो० वासुदेव शर्मा

भारतीय वास्तुशास्त्र को स्थापत्य वेद अथर्ववेद के उपवेद रूप में स्वीकार किया गया है। मनुष्य की आवासीय व्यवस्था से लेकर पञ्चमहाभूतों का दैनन्दिन जीवन में समुचित प्रबन्धन एवम् प्रयोग कैसे हितकारी बने यही इसका प्रमुख उद्देश्य है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, ये पञ्चमहाभूत ही समग्र सृष्टि के मूल कारण हैं यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है। लोक स्रष्टा ब्रह्मा ने जब समस्त सृष्टि का निर्माण प्रारम्भ किया तो–**"तस्माद्ध एतस्मादाकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निरग्नेरापः अद्भ्यः पृथ्वी ततोऽन्नानि ततः प्रजाः"** तथा च–**"ऋतञ्च सत्यञ्चाभीधा त्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत। ततः समुद्रोऽर्णवः समुद्रा- दर्णवादधि संवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिशतो वशी। सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्। दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्ष मथो स्वः।"** पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति का क्रम, समुद्रों की उत्पत्ति एवम् जलतत्त्व का प्राणिमात्र के लिये विशेष महत्त्व स्वतः सिद्ध होता है।

पञ्चमहाभूतों में जल तत्त्व की विशेषता–

यद्यपि सृष्टि का आधार पञ्चमहाभूत हैं तथापि इनमें विवेचनीय विषयानुसार वापी, कूप, तड़ाग एवम् सरोवर की आत्मा जल तत्त्व है अतः हम यहाँ जल तत्त्व की प्रधानता का ही विवेचन करेंगे। मनु का वचन है–**"अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजत्"। "जलम्"** इस शब्द में "ज"कार जगत् की उत्पत्ति अर्थात् जन्म का कारण है। तथा "ल"कार "लय" प्रलय का कारण है। **"जलति जीवयति लोकान् आच्छादयति इति भूम्यादीनि"** इस व्युत्पत्ति के आधार पर जल शब्द के सैकड़ों पर्याय शब्द भी इसके महत्त्व को आख्यापित करते हैं। महाभारत में कहा है–**"अन्नौषध्यो महाराज वीरुधश्च जलोद्भवाः। यतः प्रापभृताम् प्राणाः सम्भवन्ति विशाम्पते।"** वैदिक मन्त्रों के अनुसार **"दिव्य भौम आन्तरिक्ष"** भेद से जल के तीन भेद हैं।

"या दिव्याः आपः पयसा सम्बभूवुर्या आन्तरिक्षाः उत पार्थिवीर्याः" तथा च–**"पयः पृथिव्याभ्यम् औषधीसु पयोदिव्यन्तरिक्षे पयोधाः पयस्वतीः प्रदिथः सन्तु मह्यम्"** इत्यादि वैदिक मन्त्रों में जल के लिये आपः, पयः, अम्भः, रसः, सलिलम्, अमृतम् इत्यादि शब्दों का विशेष प्रयोग हुआ है। यहाँ कुछ शब्दों का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ इस प्रकार है–

१. आपः—"आप्नुवन्ति सर्वम्" इति आपः। **सर्वप्राणिना सृष्टि हेतु भूतत्वाज्जीवन हेतु भूतत्वाच्च सर्वव्यापनशीलः"** कहा भी है—

पानीयं प्राणिनां प्राणाः विश्वमेव हि तन्मयम्।
न हितोयाद् विना वृत्तिः स्वस्थस्य व्याधितस्य वा॥

२. पयः—"पीयते इशति पयः"। **"पयः सोम रसः अमृतम्"** ये सभी पर्याय हैं।

३. रसः—**"रस्यते आस्वाद्यते इति रसः" "रसो वै सः"** अर्थात् आनन्दरूप जल ही रस है।

४. अमृतम्—**"आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास"** यह श्रुति वाक्य है। महाप्रलय में भी जिसकी सत्ता रहे वही अमृत अर्थात् अमर है। शब्दरत्नावली में जल के ६६ पर्याय शब्द हैं। निघण्टु में सर्वाधिक जल पर्याय दिये गये हैं वहाँ सौ के करीब उदक शब्द के पर्यायों का उल्लेख हुआ है। अमरकोष में कहा गया है—

आपः स्त्री भूम्निवार्वारि सलिलं कमलं जलम्
पयः कीलालममृतम् जीवनं भुवनम् वनम्
कबन्धमुदकं पान्थः पुष्करं सर्वतोमुखम्
अम्भोऽर्णस्तोयपानीय नीरक्षीराम्बुशंबरम्।।

वेदों में पितरों के तर्पण हेतु एक मन्त्र है—

"ऊर्ज्जं वहन्तीरमृतं घृतम् पयः कीलालं परिस्रुतम् स्वधास्य तप्रयत मे पितृन"।

सन्ध्योपासन एवम् अभिषेक का प्रसिद्ध मन्त्र है—

आपो हिष्ठा मयोभुवस्तान ऊर्ज्जे दधातन महेरणाय चक्षसे। यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः उशतीरिव मातरः। **तस्माऽरङ्गमामवो यस्य क्षयाय जिन्वथ आपो जनयथा च नः** तथा

अन्तश्चरसि भूतेषु गुहाया विश्वतोमुखः।
त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कार आपो ज्योति रसोऽमृतम्।।

इत्यादि वेदोक्त मन्त्रों में जल के लिये आपः, रसः, अमृतम्, पयः, घृतम्, कीलालम्, परिस्रुतम्, ऊर्ज्जम्, विश्वतोमुखम्, ज्योतिः इत्यादि शब्द जल की विभिन्न शक्तियों के पर्याय हैं तथा एक व्यापक जलीय विज्ञान का संकेत देते प्रतीत होते हैं। इस जल का मुख्य स्रोत प्राकृतिक रूप में समुद्र, नदी,

झरने, झील, सरोवर आदि तथा मानव निर्मित वापी, कूप, तड़ाग, सरोवर आदि के रूप में हमारे सम्मुख आता है। सन्ध्योपासन, तर्पण, पर्वस्नान आदि धार्मिक कृत्य तथा नगरों एवं महानगरों की पेय जल समस्या के समाधान में नदी, जलाशय एवम् सरोवर आदि का महत्त्व सर्वविदित है अतः हम यहाँ वापी, कूप, तड़ाग, सरोवर आदि के निर्माण हेतु विधि-विधान तथा उचित काल शुद्धि, दिशा क्रम, निर्माण योग्य स्थान आदि का निर्देश भारतीय वास्तुशास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर करेंगे।

वापी–वापी का निर्माण पूर्व-पश्चिम दिशा में आयत (दीर्घाकृति) का होना चाहिये। उत्तर-दक्षिण दिशा में आयत वापी बहुत काल तक जल की स्थिरता में उपयुक्त नहीं मानी गयी। दक्षिणोत्तरायन वापी में वायु की तरङ्गों से जल नष्ट हो जाता है अतः यदि दक्षिणोत्तरायन वापी निर्माण अभीष्ट हो तरङ्गों से बचाने के लिये तटों को मजबूत पत्थर या लकड़ी आदि से चुनवा दे तथा वापी निर्माण के समय वापी की मिट्टी को हाथी-घोड़े आदि द्वारा पैरों से रुधवाया जाय अथवा आधुनिक यन्त्रों द्वारा मिट्टी को मजबूत करने के लिये प्रयत्न करे तथा किनारे पर ककुभ (अर्जुन), वट, आम, पिलखन, कदम्ब, निचुल, जामुन, बेंत, नीप (एक तरह का कदम्ब), कुरबक, ताल, अशोक, मधूक (महुआ), बकुव, विमिश्र (मोलसरी) इन वृक्षों का रोपण करना चाहिये। वापी के एक तरफ जल निकलने के लिये पत्थरों से बंधवाया हुआ एक मार्ग बनाना चाहिये। उस मार्ग को छिद्र रहित लकड़ी के तख्ते से ढककर मिट्टी से दृढ़ कर देना चाहिये। वापी को पाली नाम देते हुए आचार्य वराहमिहिर ने बृहत्संहिता के दकार्गलाध्याय में स्पष्ट कहा है–

पाली प्रागपटामताम्बु सुचिरं धत्ते न याम्योत्तरा।
कल्लोलै खदारमेति मरुत सा प्रायशः प्रेदितैः।।

तां चेदिच्छति सारदारुभिरपां सम्पातमावारयेत्।
पाषाणादिभिरेव वा प्रतिचयं क्षुण्णं द्विपाश्वादिभिः।।

ककुभ वटामुष्लक्ष कदम्बै सनिचुलजम्बूवेतसनीपैः।
कुरबकताला शोकमूधकैर्बकुल निमिश्रैश्चावृततीरम्।।

द्वारं च नैर्वाहिकमेकदेशे कार्यं शिलासञ्चित वारिमार्गम्।
कोशास्थितम् निर्विवरं कपाटं कृत्वा ततः पांशुभिरावपेत्तम्।।[१]

वापी निर्माण कूप निर्माण वा अन्य प्रकार के जलाशयों का निर्माण बहुत ही पुण्यों को उत्पन्न करने वाला एवम् स्वर्गादि उत्तम लोक प्राप्ति का जनक है। वायुपुराण में कहा गया है–

---

१. बृ०सं०द०का०अ०श्लो० ११८-१२०

यो वापीमथवा कूपम् देशे वारिविवर्जिते।
खनयेत् स दिवं याति बिन्दौ बिन्दौ शतं समा।।[१]

वापी, कूप, तड़ाग, सरोवर आदि के लक्षण संस्कृत साहित्य में बड़े ही स्पष्ट शब्दों में मिलते हैं–जो कूप आकार (चौड़ाई लम्बाई) में बृहत्तर हो, प्रस्तरखण्ड वा इष्टिकाओं से परिवेष्टित हो तथा जिसमें उतरने के लिये सीढ़ियां बनाई गई हों उसे वापी कहा जाता है। जैसा कि कहा भी है–

पाषाणैरिष्टिकाभिर्वा बद्धःकूपो बृहत्तरः।
स सोपानो भवेद्वापी तज्जलं वाप्यमुच्यते।।

वाप्यं वारि क्षारं पित्तकृत्कफवातहृत्।
तदेवमिष्टं कफकृत् वातपित्तकरं भवेत्।।[२]

भारतवर्ष के अनेक मन्दिरों, ग्रामों, नगरो, किलों, प्रासादों एवम् जन बस्तियों में वापी निर्माण की परम्परा प्राचीन काल से ही विद्यमान रही है। आधुनिक स्वीमिंग पूल इस का ही पर्याय है।

कूप–भूमि में खोदा गया जो गर्त अल्प विस्तार, मण्डलाकृति, गहरा इष्टिका अथवा पाषाण खण्डों से चिना गया हो वह कूप कहलाता है–कहा भी है–

भूमौ खातोऽल्पविस्तारो गम्भीरो मण्डलाकृतिः।
बद्धोऽबद्धः स कूपः स्यात्तदम्भः कौपमुच्यते।।

कौपं पयो यदि स्वादुत्रिदोषघ्नम् हितं लघु।
तत्क्षारं कफवातघ्नम् दीपनं पित्तकृत्परम्।।[३]

कुण्ड–**"कुण्ड्यते रक्ष्यते जलं वह्निर्वा कुडि रक्षणे आधारे जलाशये वृत्ताकारे च"** इस परिभाषा के आधार पर कुण्ड निर्माण भी जलाशय के रूप में महत्त्वपूर्ण है। मथुरा, बरसाना, नन्दगाँव, गोवर्धन तथा दक्षिण भारतीय मन्दिरों में निर्मित राधाकुण्ड, कृष्णकुण्ड आदि का निर्माण कौशल दर्शनीय है। परन्तु इन कुण्डों में जल शुद्धि का विशेष प्रबन्ध ही इसकी पवित्रता तथा पेयजल की व्यवस्था का परिचायक है। कूप, कुण्ड आदि का जल विकृत न हो सुगन्धियुत रहे इसके लिये आचार्य वराहमिहिर ने कहा है–

---

१. कल्पतरो वायुपुराणम्
२. भावप्रकाश निघण्टु वारिवर्गः ४८-४९
३. प्रकाशभाव निघण्टु वारिवर्ग ४८-४९

अञ्जनमुस्तोशीरैः शराजकोशातकामलचूर्णैः।
कतकफलसमायुक्तेर्योगः कूपे प्रदातव्यः।।

कलुषं कटुकं लवणं विरसं सलिलं यदि वाशुभगन्धि भवेत्।
तदनेन भवत्यमलं सुरसं सुसुगन्धि गुणैरपरैश्च युतम्।।[१]

अञ्जन, मोथा, खस, राजकोशातक, आंवला, कतक का फल, इन सबका चूर्ण कूप में डालना चाहिये। क्योंकि जो जल कलुषपूर्ण, (गन्दला), कड़ुवा, खारा, बेस्वाद, या दुर्गन्ध वाला हो वह इस औषधि चूर्ण से निर्मल, मधुर, सुगन्धयुत, अनेक गुणों से युत हो जाता है। पेय तथा अपेय जल के विषय में अष्टांग हृदय सूत्र में लिखा है–

अनावर्तं च यद्दिव्यम् आवर्तं प्रथमम् च यत्।
तूतादित्यतन्तु विण्मूत्रविषसंश्लेषदूषितम् न पिबेत्।।[२]

न पिबेत् पङ्कशैवालतृणपर्णाविलास्तृतम्।
सूर्येन्दुपवनादृष्टमाभिवृष्टं धनं गुरु।।

पिच्छिलं कृमिलं क्लिन्नं पर्णशैवालकद्रमैः।
विवर्णं विरसं सान्द्रं दुर्गन्धं न हितम् जलम्।।[३]

दूषित जल पीना आधुनिक युग की एक प्रधान समस्या है। यह जल पीने के लिये अग्नि द्वारा उष्ण कर वस्त्रपूत होने पर ही पान योग्य माना गया है–

पाषाणरूप्यमृद्हेण जतुतापार्कं तापितम्।
पानीयमुष्णं शीतं वा त्रिदोषघ्नम् तृडर्तिजम्।।[४]

जलशोधन की व्यवस्था

सलिलोत्पत्तिरखाते गन्धरसविपर्यये तोयानाम्।
सलिलाशय विकृतौ वा महद्भयं तत्र शान्तिमिमाम्।।

---

१. तत्रैव श्लो० ५०-५२
२. वृहत्संहिता
३. अ०ह०सू० ५/६
४. अ०ह०सू० ६/४५

सलिलाविकारे कुर्यात् पूजां वरुणस्य वारुणैर्मन्त्रैः।
तेरेव च जयाहोमं शममेव पापमुपयाति।।[१]

वापी कूप तड़ाग आदि में वरुण को बलि देकर गन्ध, पुष्प, धूप आदि से वड या वेतस की लकड़ी की कील की पूजा करके शिरा स्थान में गाड़ देना चाहिये। इस प्रकार के कूप का निर्माण गृहस्थीजनों के आवासीय भूखण्डों में दिशाा का विचार कर कूप चक्र शुद्धि द्वारा उचित काल का विचार कर किया जाता था। ग्राम एवम् नगर में भी दिशा शुद्धि का विचार कर कूप बनाये जाते थे। जिसका विवेचन हम आगे कूपमुहूर्त विचार के अन्तर्गत करेंगे।

तड़ाग–प्रशस्त भूमि में जो स्थल चिरकाल से जलाशय के रूप में स्थित हो यह स्वतः निर्मित अथवा मानव निर्मित दोनों प्रकार का हो सकता है, तालाब कहा जाता है। इसमें वर्षा का पानी कण-कण संगृहीत होता है तथा कृत्रिम साधनों द्वारा भी इसमें जल भरने की व्यवस्था आधुनिक समय में की जाती है। तड़ाग का लक्षण कुछ इस प्रकार है–

प्रशस्तभूमि भागस्थो बहुसंवत्सरोषितः।
जलाशयस्तडागः स्यात् ताडाग तज्जलं स्मृतम्।।

ताडागमुदरं स्वादु कषायं कटुपाकि च।
वाताजम् बद्धविण्मूत्रसृक्पित्त कफापहम्।।[२]

वापी व तड़ाग के तटों पर लोक कला एवम् मूर्तिकलात्मक मूर्तियां बनाई जाती हैं। तड़ाग के चारों तरफ बड़े-बड़े वृक्ष पेयजल, स्नानघर, पशुओं के पानी पीने का स्थान होता है। तड़ाग का पानी स्वच्छ रहे इसके लिये जल प्रयोग करने वालों को सतर्क रहना चाहिये। राजस्थान के विभिन्न किलों, मन्दिरों एवम् उद्यानों में निर्मित वापी, कूप, तड़ाग आदि का वास्तु दर्शनीय एवम् अनुकरणीय है। आज भी जयपुर नगर का वास्तु दर्शनीय एवम् अनुकरणीय है। जयपुर का जलमहल एक दर्शनीय तालाब है। रामेश्वरम् मन्दिर के कूप व वापियां दर्शनीय हैं परन्तु स्वच्छता अपेक्षित है।

सरोवर–"सरोभिर्जलैर्व्रियतेऽसौ" सरोवर शब्द की यह व्युत्पत्ति जल-संग्रह जलाशय का ही संकेत करती है। सरोवर दो प्रकार के होते हैं प्राकृतिक एवम् मानव निर्मित। पर्वतीय क्षेत्रों के सरोवर प्रायः प्राकृतिक होते हैं तथा समतल भूमि पर निर्मित किये जाने वाले मानव निर्मित होते हैं। इसका लक्ष्य भावप्रकाश निघण्टु में प्राकृतिक सरोवर की दृष्टि से कुछ इस प्रकार बताया गया है–

---

१. तत्रैव
२. भावप्रकाश निघण्टु वारिवर्ग ४४-४५

नद्या शैलादिरुद्धायाः यत्र संस्नुत्य तिष्ठति।
तत्सरो जलजच्छन्नम् तदम्भः सारसं स्मृतम्।।

सारसं सलिलं बल्यं तृष्णाघ्नम् मधुरं लघु।
रोचकं तुवरं सूक्ष्मम् बद्धमूत्रं मलं स्मृतम्।।[1]

प्राकृतिक सरोवरों के रूप में यदि हम कहें कि झील एवम् सरोवर पर्याय हैं तो अतिशयोक्ति नहीं होगी क्योंकि भगवान शंकर का प्रसिद्ध स्थान मानसरोवर तथा नैनीताल की झील इस ही प्रकार के सरोवर हैं। पुष्कर का सरोवर भी इस ही श्रेणी का लघु सरोवर है। श्रीमद्भागवत् के अष्टमस्कन्ध में द्वितीय अध्याय में ग्राह द्वारा गजेन्द्रोद्धार के प्रसंग में त्रिकूप पर्वत की तराई में ऋतुमान नामक उद्यान के मध्य एक सरोवर का वर्णन मिलता है–

तस्य द्रोण्यां भगवतो वरुणस्य महात्मनः।
उद्यानमृतुमन्नाम आक्रीडं सुरयोषिताम्।।

तस्मिन् सरः सुविपुलम् लसत्काञ्चन पङ्कजम्।
हंसकारण्डवाकीर्णं चक्राहवोः सारसैरपि।।

मत्स्य कच्छपसंचार चलत्पद्मरजःपयः।
शोभितं तीरजेश्चान्येर्नित्यर्तुभिरलं द्रुमैः।।[2]

इस प्रकार के सरोवरों में देवता निवास करते हैं तथा इस "सरोवर" का ध्यान एवम् चिन्तन भी विमल बुद्धि प्रदान करता है–

ये मां त्वां च सरश्चेदम् गिरिकन्दरकाननम्।
स्मरन्ति मम रूपाणि मुच्यन्ते ह्येनसोऽखिलात्।।
तेषां प्राणात्यये चाहं ददामि विमला मतिम्।।[3]

इस प्रकार के अनेक सरोवर प्राकृतिक रूप में इस भूमण्डल पर विद्यमान हैं परन्तु मानव द्वारा भी सरोवरों का निर्माण वास्तुशास्त्रीय सिद्धान्तों पर यदि किया जाय तो कल्याण कारक है अमृतसर का स्वर्णमन्दिर प्रसिद्ध सरोवर के द्वारा ही विख्यात है तथा "अमृतसर" नामकरण भी सरोवरों के

---

१. भा०प्र० नि०वा०व०श्लो० ४२-४३
२. श्रीमभा० ८ स्क० अ० २, श्लो० १-१९
३. स्क० ८. अ० ४, श्लो० १७-२५

महत्त्व को सिद्ध करता है। भारतीय वास्तुशास्त्रानुसार दिक् देश और काल का चिन्तन वापी, कूप, तड़ाग, सरोवर आदि के निर्माण में अति महत्त्वपूर्ण है। इनका आकार, चतुरस्त्र, आयत, पद्म, गोल तथा परिमाप आदि का विधान तथा दकार्गल विचार द्वारा भूमि के अन्तर्गत जलप्राप्ति के स्रोत का विचार कूप आदि के निर्माण में महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि कूप का स्थान आधुनिक बोरिंग, ट्यूबवेल, नलकूप, चापानल, हैण्डपम्प, अण्डरग्राउण्ड जलटैंक, ओवर हैड टैंकों ने ले लिया है तथापि इनके निर्माण में कालशुद्धि, गुरुशुक्रास्तादि विचार कूप, तड़ाग, वापी चक्रशुद्धि ज्ञान अपेक्षित है।

जलाशय (वापी, कूप, तड़ागादि) निर्माण आरम्भ करने से पूर्व खातारम्भ में राहुमुख ज्ञान एक महत्त्वपूर्ण विचारणीय बिन्दु है। मुहूर्तचिन्तामणि में श्रीराम आचार्य का मत है–

देवालये गेह विधो जलाशये राहोर्मुख शम्भुदिशो विलोमतः।
मीनार्कसिंहार्कमृगार्कतास्त्रिभे खाते मुखात्पृष्ठविदिक्शुभा भवेत्।।[1]

जलाशयारम्भ में मकर, कुम्भ, मीन तीन राशियों में सूर्य के स्थित होने पर राहुमुख ईशान में होता है अतः खातारम्भ अग्निकोण से करें। मेष, वृष, मिथुन तीन राशियों में सूर्य होने पर वायव्य कोण में राहुमुख होता है अतः खातारम्भ ईशान में करें। कर्क, सिंह, कन्या राशी में सूर्य के रहने पर राहुमुख नैर्ऋत्य कोण में होता है अतः खातारम्भ वायव्य कोण से करें। तुला, वृश्चिक, धनु राशी में सूर्य के होने पर राहुमुख अग्निकोण में होता है अतः खातारम्भ पृष्ठविदिक नैर्ऋत्य में करना चाहिये।

कूप निर्माण–

कूप निर्माण का विचार करते समय ग्राम, नगर अथवा अपने घर (आवासीय भूखण्ड) में कूप किस दिशा में शुभ होगा इसका विचार परमावश्यक है। इस विषय में बृहद्वास्तुमाला का वचन है–

आग्नेये यदि कोणे ग्रामस्य पुरस्य वा भवेत् कूपः।
नित्यं स करोति भयं दाहं च समानुषं प्रायः।।

नैर्ऋत्यकोणे बालक्षयं च वनिताभयं च वायव्ये।
दिक्त्रयमेतत्त्यक्त्वा शेषासु शुभावहाः कूपाः।।[2]

यहाँ नैर्ऋत्य कोण में स्थित कूप चाहे व ग्राम में हो अथवा नगर में सदा भय, सन्ताप आदि से मनुष्यों को अशुभ फलदायक है। नैर्ऋत्य कोण में स्थित कूप, बालक्षय तथा वायव्य कोण का कूप

१. मूहूर्त चिन्तामणि १२/१९
२. बृ०वा०मा० दकार्गल श्लो० १००-१०१

स्त्रियों के लिये भयोत्पादक है। इस मतानुसार ग्राम या नगर में ईशानकोण का कूप सर्वश्रेष्ठ है। इसके अतिरिक्त किसी भी वास्तु (भूखण्ड) में कूप खनन हेतु आचार्य राम देवज्ञ ने सभी दिशाओं में कूप निर्माण के शुभाशुभत्व का विचार इस प्रकार किया है–

> कूपे वास्तोर्मध्यदेशेऽर्थनाशस्त्वैशान्यादौ पुष्टिरैश्वर्यवृद्धिः।
> सूनोर्नाशः स्त्रीविनाशो मृतिश्च सम्पत्पीडा शत्रुतः स्याच्च सौख्यम्।।[१]

कूपदिशा	–	फल
वास्तु के मध्य भाग में	–	धननाश
ईशान कोण में	–	पुष्टि
पूर्व में	–	ऐश्वर्य वृद्धि
अग्नि कोण में	–	पुत्रनाश
दक्षिण में	–	स्त्रीनाश
नैर्ऋत्य कोण में	–	मृत्युकारक
पश्चिम में	–	सम्पत्ति
वायव्य कोण में	–	शत्रुपीड़ा
उत्तर में	–	सुख

दिशानिर्धारण के उपरान्त स्वादुजल की प्राप्ति के लिये आचार्यों ने अनेक प्रकार के कूप निर्माण हेतु मुहूर्त विचार करते समय नक्षत्र शुद्धि व कूप चक्र शुद्धि का विचार आवययक है। जिसमें सूर्यनक्षत्र, रोहिणी नक्षत्र, भौम नक्षत्र एवम् राहु नक्षत्र से कूपारम्भ नक्षत्र तक गणना कर नक्षत्र (कूप) चक्रशुद्धि का ज्ञान किया जाता है।

सूर्यनक्षत्र से कूप चक्र निर्माण–

> **कूपेऽर्कभान्मध्यगतैस्त्रिभिर्भैः स्वादूदकं पूर्वदिशि स्त्रिस्त्रिभिः।**
> **स्वल्पं जलं स्वादुजलं जलक्षयं स्वादूदकं क्षारजलं च मिश्रितम्।।[२]**

---

१. बृ०वा०मा०, दकार्गल श्लो० ११५
२. बृ०वा०मा० दकार्गल श्लो० ११६

कूपाकृति बनाकर दिशाओं का क्रमशः न्यास करके जल प्राप्ति का विचार निम्न प्रकार से किया जाता है। सूर्यनक्षत्र से कूपारम्भ दिन के नक्षत्र तक गणना कर विचार निम्न प्रकार करें।

सूर्यनक्षत्र से कूपचक्र

दिशा	नक्षत्र	फल
मध्य	३	स्वाद् जल
पूर्व	३	खण्डित (स्वल्प) जल
आग्नेय	३	स्वादु जल
दक्षिण	३	जल हानि
नैर्ऋत्य	३	स्वादु जल
पश्चिम	३	क्षार जल
वायव्य	३	शीतल जल
उत्तर	३	मिष्ठ जल (मीठा)
ईशान	३	क्षार जल (खारा)

रोहिणी नक्षत्र से कूप चक्रशुद्धि–

ज्योतिः प्रकाश ग्रन्थ में रोहिणी नक्षत्र से कूपारम्भ नक्षत्र तक गणना कर कूपचक्रशुद्धि का विचार किया गया है–

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि कूपचक्रम् वरानने।
रोहिण्यादिलिखेच्चक्रम् मध्ये त्रयप्रतिष्ठितम्।।

पूर्वादिदिक्षु सर्वासु त्रित्रिमार्गेण दीयते।
मध्ये शीघ्रजलं स्वादु पूर्वे भूमिश्च खण्डिता।।

आग्नेय्यां सुजलं प्रोक्तं दक्षिणे निर्जलं तथा।
नैर्ऋत्ये चामृतं वारि पश्चिमे शोभनं जलम्।।

वायव्येऽपि जलं हन्ति चोत्तरे स्वादुकं जलम्।
ईशान्ये कटुकं क्षारमल्पतीक्ष्णस्य संभवम्।।[१]

रोहिणी नक्षत्र से कूप चक्र

दिशा	नक्षत्र	फल
मध्य	३	स्वादु जल
पूर्व	३	निर्जल (खण्डित भूमि)
आग्नेय	३	शीघ्र जल प्राप्ति
दक्षिण	३	निर्जल
नैर्ऋत्य	३	अमृत जल
पश्चिम	३	शुद्ध जल
वायव्य	३	जल हानि
उत्तर	३	स्वादु जल
ईशान	३	कटुक, क्षार, अल्प तीक्ष्ण जल

भौमाक्रान्त नक्षत्र से कूप चक्र शुद्धि–

कूपनिर्माण के अनन्तर केवल जल का स्वादु एवम् खारा होना ही विचारणीय विषय नहीं है अपितु निर्मित कूप शुभ व अशुभ फल जैसे दिशाक्रम से विचारणीय है तथैव भौमाक्रान्त नक्षत्र से कूपारम्भ नक्षत्र तक गणना करके भी भौम कूप चक्र का विचार करना चाहिये। यथा–

शशिशराब्धि त्रिव्यब्धिगुणाब्धये वधजलेषु ससिद्धिरभङ्गदम्।
रुजमसिद्धियशोऽर्थप्रसिद्धये जलविभंगकरं कुजभादिषु।।[२]

भौमनक्षत्र से कूपचक्र

नक्षत्र	फल
०१	जल में वध का भय
०५	सिद्धि

---

१. बृ०वा०मा० दकार्गल श्लो० ११७-१२०

२. बृ०वा०मा० दकार्गल श्लो० १२१

०४	अभङ्ग
०३	रोग
०३	असिद्धि
०४	यश
०३	अर्थ प्रसिद्धि
०४	जलभङ्ग

मुहूर्त कल्पद्रुम कार ने राहु चक्र द्वारा भी कूप शुद्धि का विचार किया है जो कि स्वयं रुद्रभाषित है—

राहुभाच्च त्रयं पूर्वे त्रयमाग्नेयतः क्रमात्।
मध्ये चत्वारि ऋक्षान्ते फलं वाच्यं शुभाशुभम्।।

पूर्वे शोककरं राहुराग्नेय्यां जलदं सदा।
दक्षिणे स्वामिमरणं नैर्ऋत्यां दुःखदायकम्।।

पश्चिमे सुख सौभाग्यम् वायव्ये जलवर्धनम्।
उत्तरे निर्जलं विद्यादीश्वरे जलसिद्धिदम्।।

मध्ये च सजलं वाच्यम् नान्यथा रुद्रभाषितम्।
स्वयं रूपी सदा राहुः पाल्यते तत्क्षणे भुवि।।[1]

राहुनक्षत्र से कूपारम्भ नक्षत्र तक गिनें—

राहु नक्षत्र से कूपचक्र

नक्षत्र	दिशा	फल
३	पूर्व	शोक
३	आग्नेय	जल प्राप्ति
३	दक्षिण	गृहपति की मृत्यु

१. बृ०वा०मा० दकार्गल श्लो० १२२-१२५

३	नैर्ऋत्य	दुःखप्राप्ति
३	पश्चिम	सुखसौभाग्य
३	वायव्य	जलशुद्धि
३	उत्तर	निर्जल
३	ईशान	जलशुद्धि
४	मध्य	सजल

कूपमुहूर्त विचार–

उपरोक्त चक्रशुद्धियों का विचार करने से पूर्व ग्राह्य नक्षत्रों में ही चक्रशुद्धि देखनी चाहिये। यथा–

हस्तात्तिस्त्रो वासवं वारुणश्च मित्रं पित्र्यं त्रीणि चैवोत्तराणि।
प्राजापत्यं चापि नक्षत्रमाहुः कूपारम्भे श्रैष्ठ्यमाद्यैर्मुनीन्द्रैः।।[१]

हस्त से तीन नक्षत्र (हस्त, चित्रा, स्वाती), वासव (धनिष्ठा), वारुण (शतभिषा), मित्र (अनुराधा), पित्र्य (मघा), उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा, उत्तराभाद्रपदा और रोहिणी ये नक्षत्र कूपारम्भ कार्य में श्रेष्ठ हैं।

आचार्य वराहमिहिर ने चित्रा, स्वाती नक्षत्र का ग्रहण कूपारम्भ में नहीं किया। शेष सभी ग्राह्य नक्षत्र उनके मत से भी ग्राह्य हैं यथा–

हस्तो मघानुराधापुष्यधनिष्ठोत्तराणि रोहिण्यः।
शतभिगित्यारम्भे कूपानां शस्यते भगणः।।[२]

वापी मुहूर्त विचार में स्वाती, अश्विनी, पुष्य, हस्त, अनुराधा, पुनर्वसु, रेवती, शतभिषा ये नक्षत्र प्रशस्त हैं–

स्वात्यश्विपुष्यहस्तेषु मैत्रे चैव पुनर्वसौ।
रेवत्यां वारुणे चैव वापीकार्यं प्रशस्यते।।[३]

---

१. बृ०वा०मा० दकार्गल श्लो० १२६
२. बृ०स०, आ० ५४, श्लो० १२३
३. बृ०वा०मा०, श्लो० १३३

तड़ाग निर्माण मुहूर्त विचार–

तड़ाग (तालाब) पोखरी आदि के निर्माण का विचार करते समय आचार्यों ने तड़ाग चक्र शुद्धि देखने का विधान निर्दिष्ट किया है। ब्रह्मयामल ग्रन्थ में कहा है–

तडागचक्रं वक्ष्यामि यदुक्तं ब्रह्मयामले।
सूर्यभाच्चन्द्रभं यावत् गणयेत्सततं बुधैः।।

दिक्षु ऋक्षद्वयं न्यस्य मध्ये पञ्च नियोजयेत्।
षड्ऋक्षे वारिवाहे च फलं तत्र विचारयेत्।।

पूर्वे तु बहुशोकं स्यादाग्नेय्यां च जलं बहु।
दक्षिणे वारिनाशं च नैऋत्ये चामृतं जलम्।।

पश्चिमे च जलं स्वादु वायव्ये वारिशोषणम्।
उत्तरे च स्थिरं तोयमीशान्ये कुत्सितं जलम्।।

मध्ये छिद्रजलं याति वारिवाहेति पूर्णता।
एवं तडाग चक्रस्य फलं ज्ञेयं मनीषिभिः।।

ध्रुववसुजलपुष्यं नैऋतं मैत्रसंज्ञम्।
नक्षत्रं शुभदं ज्ञेयं तडागे सर्वदा बुधैः।।[1]

निम्न चक्र द्वारा स्पष्ट रूप से तड़ाग चक्र का विचार सूर्याधिष्ठित नक्षत्र से चन्द्राधिष्ठित नक्षत्र (तड़ागारम्भ नक्षत्र) तक गणना करके शुभाशुभ ज्ञानार्थ करें–

सूर्यनक्षत्र से तडाग चक्र

दिशा	नक्षत्र	फल
पूर्व	२	बहुशोक
आग्नेय	२	बहुजल
दक्षिण	२	जलनाश

१. बृ०वा०मा० दकार्गल श्लो० १२७ तः १३२ यावत

नैर्ऋत्य	२	अमृत जल
पश्चिम	२	स्वादु जल
वायव्य	२	जल शोषण
उत्तर	२	स्थिर जल
ईशान	२	कुत्सित जल
मध्य	५	शीघ्र जल
वारिवाह	६	जल की पूर्णता

इन चक्रों के द्वारा शुद्ध नक्षत्र दिन का परिज्ञान कर प्रशस्त मास, तिथि, वार व लग्नशुद्धि में जलशय आराम सुरप्रतिष्ठा करनी चाहिये।

मुहूर्तविचार[१]

जलाशय (वापी, कूप, तड़ागादि) की प्रतिष्ठा सौम्यायन मकर से मिथुनान्त तक के सूर्य में बृहस्पति चन्द्रमा और शुक्र के उदय काल में, चन्द्रमा की क्षीण स्थिति का परित्याग कर (कृष्णपक्षाष्टमी से शुक्ल पञ्चमी पर्यन्त चन्द्रमा क्षीण होता है) मृदु (मृगशिरा, रेवती, चित्रा, अनुराधा), क्षिप्र (हस्त, अश्विनी और पुष्य), चर (स्वाती, पुनर्वसु, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा), ध्रुव (तीनों उत्तरा, रोहिणी), नक्षत्रों में, शुक्लपक्ष में, रिक्ता (४-९-१४) तिथि, मंगलवार को त्याग कर शेष तिथि वारों में चन्द्रमा और पाप ग्रहों के ३-६-११ स्थानों में होने पर अष्टम और द्वादश में शुभग्रह न हों ऐसे लग्न में शुभ होती है। भविष्यपुराण के अनुसार दक्षिणायन में जलस्थिति की संभावना जहाँ हो वहाँ दक्षिणायन में भी प्रतिष्ठा की जा सकती है। **"न कालनियमस्तत्र सलिलं तत्र कारणमिति"** गर्ग का वचन है–**"देवताराम वाप्यादि प्रतिष्ठामुत्तरायणे। माघादिपञ्चमासेषु कृष्णेऽप्यापञ्चमी दिनम्।"** बृहदवास्तुमाला के अनुसार भी वापीकूपादि का आरम्भ मकर, कुम्भ, मीन लग्न में उपरोक्त ग्रह शुद्धि का विचार कर शुभ दिन में **"मकरे लग्ने कुम्भे झषे च वापीकूपजलाशयादिखननम् शस्तं प्रशस्ते दिने"** करना चाहिये। लग्नशुद्धि का विशेष विचार करते हुए आचार्य कहते हैं कि पापग्रहों के निर्बल होने पर सभी प्रकार के जलाशयों का प्रारम्भ करना

---

१. जलाशयारामसुरप्रतिष्ठा सौम्यायने जीवशशाङ्क शुक्रे। दृश्ये मृदुक्षिप्रचरध्रुवे स्यात्पक्षे सिते स्वर्क्षतिथिक्षणे वा।। रिक्तारवर्जे दिवसेति शस्ता शशाङ्क पापैस्त्रिभवाङ्गसंस्थैः। व्यन्त्यास्तौः सत्खचरैः ....

वास्तुरत्नावली, पृ० १५४

चाहिये। लग्न में बुध अथवा गुरु हों व लग्न अथवा दशम में चन्द्र शुक्र के होने पर वापी, कूप, तालाब आदि के लिये बन्धे जल को खोलना हितकर होता है। यथा–

सर्वतोयाश्रयारम्भः कर्तव्यो विबलैः खलैः।
लग्नस्थे ज्ञेऽथवा जीवे लग्नभेऽब्जे सिते खगे।।

ध्रुववासवयुग्मार्कपुष्यमैत्रमघासु च।
वापीकूपतडागादिवारिबन्धनमोक्षणम्।।[१]

एकदृष्टि में वापी, कूप, तड़ागादि के आरम्भ का मुहूर्त जानने के लिये चक्र–

वापी-कूप-तड़ागादि चक्र

अयन	उत्तरायण
मास	माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ
पक्ष	शुक्लपक्ष, कृष्णपक्ष में पञ्चमी तक
तिथि	१-२-३-५-६-७-८-१०-११-१२-१३-१५
वार	गुरु शुक्र, सोम बुध
नक्षत्र	मृग०, रेवती, चित्रा, अनुराधा, हस्त, अश्विनी, पुष्य, स्वाती, पुनर्वसु, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, तीनों उत्तरा, रोहिणी
लग्न	मकर, कुंभ, मीन
ग्रहशुद्धि	लग्न में गुरु अथवा बुध, लग्न अथवा दशम में चन्द्र शुक्र, पापग्रह ३-६-११ वे होने पर, खलग्रहों के निर्बल होने पर तथा गुरु शुक्र चन्द्र के उदय होने पर मुहूर्त शुभ होगा।
विशेष	भविष्य पुराण के अनुसार विशेष परिस्थिति में जलप्राप्ति हेतु दक्षिणायन में भी प्रतिष्ठा की जा सकती है।

---

१. बृ०वा०मा० श्लो० १३९-१४०

गृहकूप प्रतिष्ठा–

जलाशय (कूप) निर्माण के बाद प्रतिष्ठा करनी चाहिये। वहाँ केशव, शम्भु, अनन्त की स्थापना पूजन, जलजन्तु, सप्तमातृकाओं का पूजन, कूप पूजन, आच्छादन, अधिवासन, और मत्स्य कच्छप आदि की मूर्तियों का पूजन करना चाहिये। पूजन के अनन्तर कूप के मध्य में केशव, शंभु और अनन्त भगवान की मूर्तियों का प्रक्षेपण करें। पुनः प्रणवादि नाममन्त्रों से गन्ध पुष्पादि के द्वारा पूजन कर बलिदान करें। इस प्रकार वास्तु कूप पूजन करके ग्रहयज्ञकल्पोक्त प्रकार से ग्रहस्थापन, ग्रह अधिदेवता, प्रत्यधिदेवता तथा क्रतुसंरक्ष दिक्पाल आदि देवों का पूजन कर प्रतिष्ठा सम्पन्न करने से ही जलाशय (वापी कूप, तड़ाग, सरोवर आदि) मानव तथा समस्त प्राणियों के लिये कल्याण कारी होगा।

वास्तुशास्त्रीय वन एवं वनस्पति

प्रो० सच्चिदानन्द मिश्र

त्रिस्कन्धान्तर्गत संहिताभाग में वास्तुशास्त्र अनेक विभागात्मक विस्तृत वैज्ञानिक विधानयुक्त अनिवार्य शास्त्र है। तप्तावस्था की पृथ्वी के ऊपरीभाग की दृढता एवं वासयोग्यता की स्थिति ही वास्तुपुरुष की उत्पत्ति तथा अधोमुख संस्थान दिव्य आख्यान के रूप में वर्णित हैं। इससे भूगोलविद्या, भूपृष्ठीयसंरचना, भूमिकम्प, पर्वत से समुद्रतट तक वास्तु एवं वनस्पति भेद आदि विषय भी इससे सम्बद्ध हैं।

वास्तुशास्त्रान्तर्गत गृह के समीप रोपणीय वृक्ष

वनस्पतिशास्त्र स्वतन्त्रविद्या होनें पर भी वास्तुशास्त्र का महत्वपूर्ण अंग है। वनस्पति भेद में वृक्ष, पादप, लता, वनस्पति, तृण, कन्द, मूल, पुष्प तथा धान्य आदि समस्त भेद इसके अन्तर्गत आते हैं। गृह में लगाने योग्य वृक्षादि से प्रारम्भ कर विभिन्न गृहोपकरण निर्माण, गृह के चारो ओर लगानेयोग्य वृक्ष, वाटिकानिर्माण, वृक्षचिकित्सा आदि विषय स्वतन्त्र वैज्ञानिक विषय होनें पर भी मानव जीवन के रक्षण, पोषण तथा वातावरण सन्तुलन में अद्वितीय भूमिका प्रदायक होनें से तथा–मानवीय जीवनाभिप्रायिक होनें से, इस विभाग को भी वास्तुविद्या के अन्दर रखा गया।

जहां भी गृहभूमि का चयन कर गृह निर्माण किया जाता है, वहां गृह के चारो ओर वृक्षरोपण कर वातावरण को पर्यावरण की शुद्धि से जोड़ते हैं। शुद्ध वातावरण में वृक्षों की अद्वितीय भूमिका प्राचीनतम काल से स्वीकृत है। निर्मित गृह में सर्वदा शुभ की प्राप्ति होती रहे तथा एतदर्थ प्रथमतः गृहारम्भ के लिये निम्नाङ्कित विधान[१] करना चाहिए यथा–

द्वारशुद्धिं निरीक्ष्यादौ भशुद्धिं वृषचक्रतः।
निष्पञ्चके स्थिरे लग्ने द्वयङ्गेवालयमारभेत् ॥
त्याक्त्वा कुजार्कयोश्चांशं पृष्ठे चाग्रे स्थितं विधुम्।
बुधेज्यराशिगं चार्कं कुर्याद् गेहं शुभाप्तये ॥

---

१. बृहद्वास्तुमाला - १/८-९

द्वार शुद्धि देखकर वृषचक्र से नक्षत्र शुद्धि देखकर पञ्चक भिन्न शुभनक्षत्रों में स्थिर तथा द्विस्वभाव लग्न में गृहारम्भ करना चाहिए। लग्न में मंगल तथा सूर्य का अंश न हो तथा बुध तथा गुरु की राशि में सूर्यादि ग्रह स्थित न हों, आदि।

भूमि के वर्णभेद से वृक्षरोपण के नियम भी संकेतित हैं[१]। दिग्भेद से वृक्ष भेद का महत्व प्राप्त होता है। यथा[२]–

अश्वत्थः पूर्वतो धन्यो दक्षिणस्यामुदुम्बरः।
न्यग्रोधः पश्चिमे श्रेष्ठः प्लक्षोऽप्युत्तरतः शुभः।।

न्यग्रोधः पूर्वतो वर्ज्यो दक्षिणे प्लक्ष एव च।
अश्वत्थः पश्चिमे भागे ह्युत्तरे चाप्युदुम्बरः ।।

अश्वत्थोऽग्निभयं कुर्यात् प्लक्षः कुर्यात प्रमादकम्।।
न्यग्रोधः शस्त्रसम्पातं कुक्षिरागमुदुम्बरः ।।

अर्थात् – पूर्वदिशा में पीपल, दक्षिण में गूलर, पश्चिम में बरगद तथा उत्तर दिशा में पाकड़ शुभप्रद होता है। इसके विपरीत दिशा में कथित वृक्ष अशुभप्रद होते हैं। अर्थात् पूर्व दिशा में बरगद, दक्षिण में पाकड़, पश्चिम में पीपल, तथा उत्तर में गूलर का वृक्ष नहीं लगाना चाहिये। यदि अज्ञानता से भ्रमवश निषिद्ध दिशाओं में उपर्युक्त वृक्ष लगाये जाने पर या होने पर पीपल – अग्निभय, पाकड़ – प्रमाद; बरगद – शस्त्रभय, तथा गूलर – उदर (पेट) रोगकारक होता है।

वृक्षानुरोध से वास्तुभूमि का शुभत्व एव अशुभत्व निर्धारण –

शस्तौषधिद्रुमलता मधुरा सुगन्धाः स्निग्धा समान सुखदा च मही नराणाम्।
अप्यध्वनि श्रमविनोदमुपागतानां धत्ते श्रियं किमुत शाश्वतमन्दिरेषु।।[३]

अर्थात् उत्तम औषधि, वृक्ष तथा लता से युक्त भूमि, मधुर, चिकनी, सुगन्धयुक्त समतल, उत्तम होती है। जहां रास्ता चलते लोग अपनी थकान भूल जाएँ, इस प्रकार की भूमि प्रशस्त होती है।

---

१. बृ. वा. मा. – अ. ३ श्लो. २७ से ३४ पृ. ७ से ८।
२. बृ. वा. मा. – अ. ३ श्लो ७१ से ७३ पृ. १५।
३. बृ. वा. मा. – अ. ३ पृ. १६, बृहत्संहिता अ. ५३ – श्लो. ७८।

वास्तुप्रदीपानुसार भूमिदोष[1]–

स्फुटिता च सशल्या च वल्मीकाऽऽरोहिणी तथा।
दूरतः परिहर्त्तव्या कर्त्तुरायुर्धनापहा ॥

विशेषफलम्–

स्फुटिता मरणं कुर्यादुषरा धननाशिनी।
सशल्या क्लेशदा नित्यं विषमा शत्रुवर्धिनी ॥

चैत्ये भयं गृहकृतो बल्मीके स्वकुले विपत्॥
गर्तायान्तु विनाशः स्यात् कूर्माकारे धनक्षयः ॥

फटी हुई, दीमकों से व्याप्त तथा ऊँची-नीची भूमि वास की दृष्टि से उपयुक्त नहीं होती। वनस्पति के विकास में भी इस प्रकार की भूमि अच्छी नहीं होती।

भूमि की उर्वरता से शुभाशुभ विचार[2]–

अथवा सर्वधान्यानि वापयेच्च समन्ततः।
यत्र नैव प्ररोहन्ति तां प्रयत्नेन वर्जयेत् ॥

अर्थात् उर्बरा भूमि वृक्षरोपण के योग्य है, तथा बास के योग्य भी उपयुक्त मानी जाती है।

वृक्ष आदि के सम्यक् विकासक भूमि को ही बास योग्य कहा है। यथा[3]–

यत्र वृक्षाः प्ररोहन्ति सस्यं हर्षात्प्रबर्द्धते।
सा भूमिर्जीविता वाच्या मृता चातोऽन्यथा भवेत् ॥

अर्थात् – उर्वराभूमि वृक्षरोपण, सस्य विकास में उत्तम, बास के योग्य तथा जीवित होती है, अन्यथा मृत एवं अयोग्य होती है।

---

१. बृ. वा. मा. – अ. ३, ७९-८१ पृ. १६
२. बृ. वा. मा. – अ. ४, ११० पृ. २२
३. बृ. वा. मा. – अ. ४, १०९ पृ. २०

नवीन गृह में अग्राह्य काष्ठ–

गृह में काष्ठ का प्रयोग प्राचीनतमकाल से होता रहा है। स्तम्भ से लेकर गृहधरण, कपाट, उपस्तम्भ, कड़ी, प्रभृति में आज भी काष्ठ प्रयोग हो रहे हैं। अन्य पुराने गृह के काष्ठादि अन्य नवीन गृह में प्रयोग नहीं करना चाहिये। यथा[१]–

> अन्यवेशमस्थितं दारुं नैवान्यस्मिन् प्रयोजयेत्।
> न तत्र निवसेत्कर्त्ता वसन्नपि न जीवति ॥

> इष्टका-लोष्ठ-पाषाण-मृत्तिका जीर्णमायसम्।
> तृणं पत्रं बुधैः प्रोक्तं दारुनूतनं गृहाय वै ॥

अर्थात् - पुराने गृह की लकड़ी ईंट, मिट्टी, पत्थर, लोहा, तृण, पत्र, नये में प्रयोग करना जीवनान्त प्रदायक अर्थात् दुर्घटनाकारक होते है।

वास्तुशास्त्र में ग्राह्य काष्ठ–

श्रीपर्णी = गम्भार, रोहिणी = कुटकी, शाक = शागौन, सखुआ = शाल, सर्ज = सागवान्, सीधेवृक्ष, पतंग, लोध्र = लोध, शाल = Teak wood, ताल = ताड़ = तार, अजुर्न = कोह, शिंशक = शीशम, चन्दन, अशोक, बदरी = बैर, मधुक = महुआ, कदम्ब = कदम ये गृहनिर्माण में उपयोगी तथा गृह के समीप लगाने योग्य वृक्ष हैं। शमी, नीम्ब = नीम, बिल्व = बेल, ये गृह में लगाने योग्य काष्ठ नहीं, नहीं इन्हें घर के समीप रोपना चाहिए। गुणयुक्त दृढ़काष्ठ गृहनिर्माण में उपयोगी होता है। गृह में सम (तुल्य बराबर) तथा अलिन्द (दरबाजा तथा बरामदा) में विषम धरण युक्त काष्ठ शुभ होता हैं। यथा[२]–

> श्रीपर्णी रोहिणी शाकः सर्जश्च सरलाः शुभाः।
> पतङ्गत्वोघ्रशालाख्यास्तालार्जुन- कशिंशपाः ॥

> चन्दनाशोकबदरीकमधूकाश्च कदम्बकाः।
> प्रशस्ताश्च शमी निम्बो बिल्ववर्ज्यं गृहान्तिके ॥

---

१. बृ. वा. मा. - ६/१२८-१२९
२. बृ. वा. मा. - ६/१३०-१३१

गृहे दारूगुणैर्युक्तं गृहकर्माणि युज्यते।
गृहे काष्ठं समं श्रेष्ठमालिन्दे विषमं शुभम् ॥[१]

नारद के मत से त्याज्य काष्ठ–

प्लक्ष = पाकड़, उदुम्बर = गूलर, चूत = आम, निम्ब = नीम, स्नुहि = सेहुड़, बिभीतका = बहेड़ा, दग्ध = जला हुआ, कण्टकिनी = कांटेदार वृक्ष, एवं झाड़ी, वट = बरगद, अश्वत्थ = पीपल, कपित्थ = कैथ, अगस्त, शिग्रु = सहजन; ताल = ताड़, तिन्तिड़ीका – इमली ये वृक्ष न तो घर के समीप लगावें न इनकी लकड़ी का प्रयोग गृहनिर्माण में करें।

टि. – ये बड़े वृक्ष हैं। घर के समीप लगानें से इनकी छाया गृह पर पड़नी (प्रातः सायं एवं मध्याह्न में) रोगोत्पादक होती है। ये औषधीयवृक्ष हैं, तथा इनके काष्ठ मुलायम होते है, अतः दोनों (औषधीय वनस्पति के विनाश तथा नर्मकाष्ठ से निर्मित गृह में आपद निरोधक क्षमता नहीं होने से) दृष्टि से या तीनों दृष्टि से इन्हे त्याज्य कहा। यथा[२]–

प्लक्षोदुम्बरचुताख्या निम्बस्नुहिबिभीतकाः।
दग्धाः कण्टकिनो वृक्षा वटाश्वत्थकपित्थकाः॥

अगस्तशिग्रुतालाख्यास्तिन्तिडीकाश्च निन्दिताः।
अन्ये च गृहनिर्माणे योजनीया समाः द्रुमाः॥

वराह के अनुसार त्याज्यकाष्ठ–

श्मसान, रास्ता, देवमन्दिर, दीमकवाला, देवस्थान के बागीचा से काटागया, तपस्वियों के आश्रम का, डीह का, नदीसंगम पर उत्पन्न, घटासिक्त, जंगली लताओं से आवृत्त, बिजली तथा आन्धी से आहत, स्वयं पतित, हाथी से गिराया गया, सुखा, जला, मधुमक्खियों के छाते से युक्त, काष्ठ को गृहनिर्माण में उपयोग करना वर्जित है। चिकने पत्र तथा पुष्प युक्त वृक्ष का भी गृहनिर्माण में प्रयोग निषिद्ध है। ब्राह्मणवर्ण को – देवदारु, चन्दन, तथा महुआ; क्षत्रीय वर्ग को – नीम, पीपल, खैर (खैरा) तथा बेल; वैश्य वर्ण को – विजयसार, खैर, सेबड़ी, तितिम आदि वृक्षों की लकड़ियां शुभ होती हैं। शुद्रों के लिये तिन्दुक, नागकेसर, सर्ज तथा अर्जुन वृक्षकाष्ठ शुभप्रद कहा है।

---

१. बृ. वा. मा. ४/१३३-१३४
२. बृ. वा. मा. ६/१३०-१३२

टि. - वर्णानुरोध से पठित वृक्ष के शुभत्व, जीवन रक्षण पोषण विकास एवं सद्गति प्रदान का तथा तद्गत तत्वसेवन वर्णगत क्षमता बर्धक है। इसपर सम्बन्ध निष्पत्याश्रित सरलता गुण, क्रिया - प्रतिक्रिया तथा प्रभाव को त्रिगुणात्मक एवं पञ्चभूतात्मक परमाणु एवं जीवाणु से विराट एवं जगदात्मक तथा परात्पर तक की यात्रा के आरोग्यात्मक प्रयोग में अष्टाङ्ग आयुर्वेद ज्योतिष आदि से आरोग्यकारक विधान प्रस्तुत करता है। Medical Astrology की परम्परा में वनौषधीवर्ग एवं उनके रसायनिक संरचना एवं जैव प्रभाव के अध्ययन का संकेत, अति प्रचीन ऋग्वेद मूलक है।

मानवत्वेन उपर्युक्त विधान सभी वर्ण के मानव के लिये शुभार्थक का अर्थ व्यक्तिगत प्रकृति मिश्रण से शारीरिक, मानसिक, बौधिक एवं आध्यात्मिक विकास की चतुर्विध दिशा निर्धारण में आहार विहार एवं वातावरणजन्य प्रभाव का स्व - २ क्षितिजाभिप्राय से निर्धारण कर निश्चित सम्बन्ध को मानव एवं वनस्पति, जीव-जन्तु, कीट-पतंग, शस्य, फल, मूल, कन्द लता, पादप आदि भेद एवं तृण तथा कण का अन्यान्य सम्बन्ध समीक्षणीय है।

अत: मानवीय एक पिण्डनिष्ठ - कर्मनिष्ठसंघ - शारीरिक भोगविलास प्रधान - अनियत आहार विहारयुक्त - गृहत्वाभिप्रायिक गतिशील - चेतना तथा बलभोगादि एवं तम प्रधानता का द्योतक।

उद्योगपति एवं व्यवसायी-कर्मनिष्ठ दान, भोग, शिक्षानुरोध से व्यवसायिक परिणामक सामर्थ्ययुक्त चेतना २ + शीरीरिक क्षमता ३ - रज तथा तम मिश्रण का द्योतक। दानशील, ऐश्वर्योपासक, भोग एवं व्यवसायिक क्षेत्र सम्बद्धता।

रक्षानुशासन प्रधान, मातृभक्त, देशभक्त देवभक्त, मानवता का कल्याणकारी चेतना ३ + सक्षमता ४ नेतृत्व एवं रक्षक, धर्मपरायण। योगनिष्ठ - रक्षकवर्ग - सैन्य एवं सैन्यगुप्तचर तथा रक्षावैज्ञानिक।

ज्ञानविज्ञान तर्ककला चेतना प्रधान वैज्ञानिक दार्शनिक एवं योगनिष्ठ प्रबुद्धवर्ग चेतना ४ + सक्रियता ४। इनके समवेत सर्वाभिप्रायिक रक्षण पोषण विकास एवं शिक्षणाश्रित मूल से ही मानवजीवन एवं पर्यावरण के महत्व को समझ सकते हैं। शुद्धि के आयाम तथा प्रदूषणमुक्ति में जल, वायु, वनस्पति, अग्नि तथा आकाश भूपृष्टस्थ वनौषधि आदि की सुरक्षा एवं वनसंपदारक्षण के स्वरूप को ईमानदारी से सर्वाधिक सुरक्षार्थ एवं विकासार्थ यथार्थ नियमन करवाने की जरुरत है।

वराह का प्रमाण[१] –

पितृवनमार्गसुरालयवल्मीकोद्यानतापसाश्रमजाः।
चैत्यसरित्संगमसंभवाश्च घटतोयसिक्ताश्च ॥

कुब्जानुजातवल्ली निपीडिता वज्रमारूतोपहताः।
श्वपतिहस्तिनिपीडितशुष्काग्निप्लुष्टमधुनिलयाः ॥

तरवो वर्जयितव्याः शुभदाः स्युः स्निन्धपत्र कुसुमफलाः।
सुरदारुचन्दनसमामधूकतरवः शुभाद्विजातीनाम् ॥

क्षत्रस्यारिष्टास्त्वश्वत्थखदिरविल्वादि वृद्धिकराः।
वैश्यानां जीवकखदिरसिन्दुकस्यन्दनाश्च शुभफलदाः ॥

तिन्दुक केसरसर्जार्जुनयोत्थशालाश्च शूद्राणाम्।
सर्वेषां वा शस्ताः सर्वेवृक्षाश्च निन्दिता ये न॥

टि. – यहां बुद्धि के ज्ञान वैराग्य बलउद्यम, व्यवसायोद्यम एवं उत्पादन तथ्य, शारीरिक उद्यम एवं पोषणादि संनिहित काम मानवमात्र से जुड़े तत्व हैं। न्यूनाधिक क्रम से चारो प्रकार की क्षमता व्यक्तिमात्र में होती है। जिसमें जो क्षमता एवं प्रकृति जैसी होती है, उससे व्यक्ति की पहचान बनती है। अतः चतुर्वर्णविभाजित औषधिय वनस्पतियों के वर्गीकरण का उद्देश्य भी उनके विभिन्न रूपक आयुर्वैज्ञानिक औषध्याश्रित सेवन से बुद्धि, बल, उद्यम तथा शारीरिक क्षमता तथा तीव्रतावर्धक औषधियां तुल्य निष्कर्ष विधायक तथा आहार विहार चिन्तन व्यवहारजन्य निष्पत्ति से प्रकट होते हैं। अग्निगर्भ, वातगर्भ, शीतगर्भ, दिव्यनाभसभौमभेदीय प्रस्तर, रत्न, शीला धातु, विकिरणज, वनस्पतिज, जीवज, समुद्रज आदि पदार्थों जीवों जन्तुओं तथा वनस्पतियों से निर्मित औषधियों के प्रमाण आयुर्विज्ञान तथा वनस्पतिविज्ञान की पृष्ठभूमि पर ज्योतिषगम्य हैं। योग + ज्योतिष + आयुर्वेद + तन्त्रगम + वनस्पति + सर्वविध भौतिक एवं रसायनिक प्रभावविधान दर्शक एवं यन्त्रों की विश्वस्तरीय एवं राष्ट्रीय व्यापक संयोजन के भिन्न २ समूह तथा इन संस्थानों में ऐक्य से समवेत आधार निर्माण तथा एक के मुख्यत्व से मानवीय समस्त समस्याओं के समाधान संभव है।

---

१. बृ. वा. मा. – अ. ६ श्लो. १३५ से १३९।

वृक्षच्छेदन मुहूर्त्त - गृहकाष्ठ एवं उपकरणार्थ -

गृहनिर्माण, गृहसम्बन्धि उपकरण निर्माण तथा इन्धन आदि के रूप में काष्ठ का उपयोग विहित है। पूर्णपरिक्व वृक्ष का छेदन गृहकार्यनिमित विशेष मुहूर्त्त में काटनें का विधान प्राप्त होता है। यथा[१]—

कृष्णपक्षे चतुर्दश्यां रेवतीरोहिणीयुते।
यदा तदा गुरौ लग्ने गृहार्थं तु हरेद्द्रुमान् ॥

शुक्रे लग्ने गुरौ केन्द्रेष्वगेराशौ गृहोपरि।
तृणादिभिः समाच्छाद्यो न चैवाग्निभयं भवेत् ॥

कृष्णपक्ष में चतुर्दशी + चान्द्रनक्षत्र रेवती, रोहिणी लग्नस्थ गुरू वा लग्नस्थ शुक्र तथा केन्द्रस्थ (१, ४, ७, १० भावस्थ) गुरू में गृहनिर्मित काष्ठच्छेदन तथा तृणादि का आहरण शुभप्रद होता है। इन योगों में आच्छादित घर (तृणकाष्ठनिर्मित) में अग्निभय नहीं होता।

वृक्षच्छेदन पूर्व भूतादि प्रार्थना

यानीह भूतानि वसन्ति तानि बलिं गृहीत्वा विधिवत्प्रयुक्तम्।
अन्यत्र वासं परिकल्पयन्तु क्षमन्तु ते चाद्य नमोऽस्तु तेभ्यः॥

गृह तथा देवमन्दिर के पास वृक्षरोपण तथा छेदन के विधान -

वृक्षाः दुग्धासकण्टकाश्च फलिनस्त्याज्याःगृहाद्दूरतः।
शस्ते चम्पकपाटले च कदली जाती तथा केतकी॥

याम्यादूर्ध्वमशेषवृक्षजनिता छाया न शस्ता गृहे।
पार्श्वे कस्य हरे रवीशपुरतो जैनानुचण्ड्याः क्वचित्[२]॥

अर्थात् दुधयुक्त वृक्ष (जिन्हें काटने वा तोड़ने पर दूध बाहर आवे) कांटेदार फलयुक्त वृक्षादि घर से दूर (कम से कम इतनी दूर की प्रातः सायं की छाया न पड़े, मध्याह्न की तो बिलकुल नहीं पड़ें) होना चाहिये। अर्थात् इस प्रकार के वृक्ष गाँव से बाहर होना चाहिये। फलयुक्त बड़े वृक्ष भी गृह के समीप त्याज्य हैं।

---

१. बृ. वा. मा. - ६/ १४०, १४१
२. वृ. वा. मा. पृष्ठ ११३ संस्करण २००३

चम्पक, गुलाब, केला, जाती (चमेली) केतकी (केवड़ा) ये घर के समीप लगाना शुभप्रद हैं। १ प्रहर दिन के बाद भी यदि किसी वृक्ष की छाया घर पर पड़े तो इस प्रकार का कोई भी वृक्ष शुभप्रद नहीं माना जाता। भगवान १. ब्रह्मा, २. विष्णु, ३. सूर्य, ४. शिव, ५. जैन तथा अन्य ६. देव ७. देवी मन्दिर के पार्श्व (दक्षिण, वाम तथा पृष्ठ) के वृक्ष का छेदन नहीं करना चाहिये। ब्रह्माजी के दोनों बगल में विष्णु, सूर्य तथा शिवजी के मन्दिर के सामने, जैनमन्दिर के पीछे, एवं देवीमन्दिर के किसी भी भाग में गृहनिर्माण, गृहकर्त्ता के लिए अशुभ होता है।

सदुग्ध वृक्ष धननाशक, कांटेदार से शत्रु एवं रोगभय, सफल वृक्ष से प्रजानाश, (प्रकृष्ठोत्पत्तिस्तु पुत्रादयस्तेषां प्रजादीनां सम्बद्धलोकानां नाशक इति) स्वर्णवर्ण (रंग एवं दीप्ति) के फल भी गृह के समीप शुभ नहीं होते। यथा[१] -

सदुग्धवृक्षाः द्रविणस्य नाशं कुर्वन्ति ते कण्टकिनोऽरिभीतिम्।
प्रजाविनाशं फलिनः समीपे गृहस्य वर्ज्याः फलधौत पुष्पाः ॥

टि. - योग तन्त्र रसायन तथा आयुर्वेद से इनके समीपस्थ, छाया, तथा इनसे निःसरित गैस के प्रभाव को जानना उपर्युक्तों से समवेत प्रयोग से निर्धारण संभव है।

प्रकारान्तर से ग्राह्य अग्राह्य वृक्ष[२] -

दुष्टो भूतनिषेवितोऽपि विदपी नोच्छिद्यते शक्तितः,
तद्वद्बिल्वशमी त्वशोकबकुलो पुन्नाग सच्चम्पकौ।
द्राक्षा पुष्पकमण्डपं च तिलकान् कृष्णां वपेद्दाडिमीं,
सौम्यादेः शुभदौ कपित्थकवटावौदुम्बराश्वत्थकौ ॥

अर्थात् दुष्टभूत से सेवित तथा शक्तिवास रूप वृक्ष का शक्तिच्छेदन वर्जित है। इसी प्रकार - बेल, शमी, अशोक, बकुल (मौलसिरी) पुन्नाग तथा चम्पक वृक्ष का छेदन भी नहीं करना चाहिए। द्राक्षा (अंगुर - मुनक्का की बेल के मण्डप का, चन्दनवृक्ष का, पिप्पली बेला (लता = लती) का भी छेदन न करें। इनका लगाना शुभ है। अनार, तिलक, कृष्ण आदि का बीजवपन तथा गृहसमीपस्थ लगाना शुभप्रद होता है। गृह से उत्तर आदि दिशाक्रम से कपित्थ = कैथ, ऊँचा वट = वड़, उदुम्बर = गूलर, अश्वत्थ = पीपल पश्चिम में शुभप्रद होते हैं। गुलाब दक्षिण दिशा में शुभप्रद होता है।

---

१. बृ. वा. मा. - पृ. ११५।
२. बृ. वा. मा. - पृ. ११६।

वराहमत से वृक्षविचार -
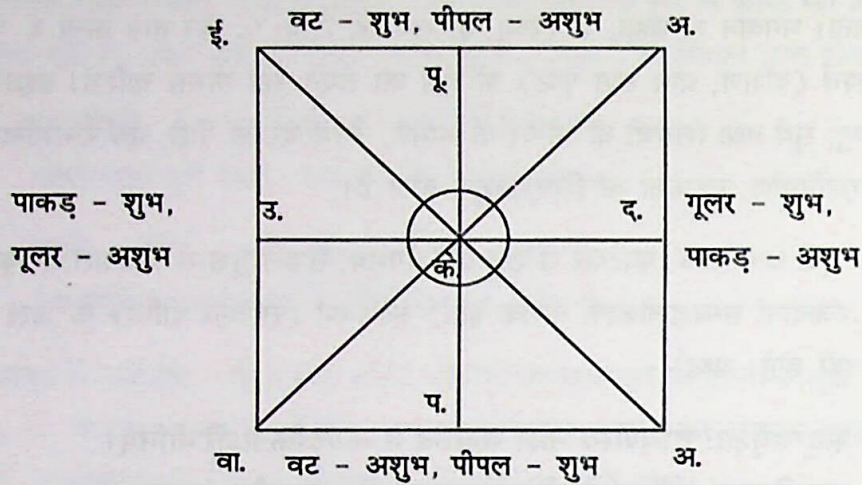
दिग्भेद से वृक्ष का शुभाशुभत्व १८०° अन्तर से सामने अशुभ की परस्पर भार्धान्तर निष्पत्ति पर आधारित है। इस प्रकार प्रत्येक दिशा से सम्बद्ध वृक्षों के शुभाशुभत्व वर्गीकृत हैं।

घर के समीप बबूल, खैर आदि कांटेदार वृक्ष शत्रु एवं भयोत्पादक, दुधवाला वृक्ष धननाशक, सफल - सन्ताननाशक होनें के साथ २ दारुण होने से त्याज्य वृक्ष हैं। इनके काष्ठ भी त्याज्य हैं। इनके कार्ष्ठ का किसी भी प्रकार के गृहोपकरण तथा गृह में प्रयोग करना अनुचित है। यदि शुभ बनाना अभीष्ट हो तो - इनके मध्य में पुन्नाग, अशोक, नीम, बकुल = मौलासिरी, पनस = कटहल, शमी तथा शालवृक्ष लगाने से दोष शामक हो जाता हैं। यथा बृहत्संहितोक्त वृक्षविचार[1] -

याम्यादिष्वशुभफल जातास्तरवः प्रदक्षिणेनैते।
उदगादिषु प्रशस्ताः प्लक्षवटोदुम्बराश्वत्थाः॥
आसन्नाः कण्टकिनो रिपुभयदाः क्षीरिणोऽर्थनाशाय।
फलिनः प्रजाक्षयकरा दारुण्यपि वर्जयेदेषाम् ॥

छिन्द्याद्यदि न तरुं स्तान् तदन्तरे पूजितान् वपेदन्यान्।
पुन्नागाशोकारिष्टवकुलपनसान् शमीशालौ ॥

टि. - उपर्युक्त वृक्ष वनाभिप्रायिक है। शुभप्रद पुन्नागादि वृक्ष प्राणवायु प्रदायक होनें से उपर्युक्त बबूलादि से उत्पन्न सविष प्राणवायु के प्रभाव के शामक कहे गये हैं। उपर्युक्त अमृत वृक्षों की कितनी संख्याओं तथा मात्राओं से इनकी रसायनिक प्रतिक्रिया एवं रसायनिक जैवादि प्रभाव का नवीन आयुर्विज्ञानियों को उपर्युक्त आलोक में परीक्षित करना चाहिए। उपर्युक्त मत काश्यपादि वराह तक सभी ऋषियों तथा अन्वेषकों नें स्वीकारा है, गर्गादि ऋषियों के सदृश ही बराहमिहिर ने भी वृक्षादि विचार किया है।

वाटिकादि रोपने का माहात्म्य -

वाग, बागीचा, तालाब, कूप लगाने का महत्व प्राचीनतम काल से महत्वपूर्ण है। घर के पूर्व, पश्चिम, ईशान कोण में वाटिका, तालाब तथा कुंआ बनाने का फल सदा गायत्री पुरश्चरण के समान माना कहा है। सदा दान तथा यज्ञफल की प्राप्ति होने के समान होना कहा है। वृक्ष के तुल्य ही पादप (लता) लगाने का फल भी कहा है। यथा[२] -

वाटिका वा तडागो वा कूपो वा यदि निर्मितः।
गृहात्पूर्वे कुवेर्यों च वरुणे शम्भुकोणके ॥
सदा सावित्री भविता सदा दानं प्रयच्छति।
सदा यज्ञं स पूज्येत यो रोपयति पादपम् ॥

टि. - वातावरण सन्तुलन, इन्धन की अपूर्त्ति से मानव की रक्षा तथा पोषण आदि में मुख्य भूमिका होने से इसका महत्व अद्वितीय बताया है। तालाब तथा कूप को "जायते लीयत इति जलम्" की व्युत्पत्ति से जीवोत्पादक एवं प्राणरक्षक होने से तुल्य महत्व प्राप्त है।

वास्तुप्रदीप में दिग्भेद से वृक्ष लगाने का प्रभाव -

दूधवालेवृक्ष - बरगद, पीपल, लालफूलवाले वृक्ष, कांटेदारवृक्ष, सेमल पाकड़, गूलर आदि अग्नि कोण में लगाने पर दुष्टप्रभाव प्रदायक होते हैं। ये अग्निकोणस्थ होनें पर कष्टप्रद तथा मृत्युप्रद होते हैं। पुन्नाग, फलयुक्तवृक्ष, नीम, अनार अशोक, जाती नागकेशर, ओड़हुल, केसर, जयन्ती, चन्दन, वचा, अपराजिता, महुआ, बैल, आम, दालचीनी, नागर, नारियल ये वृक्ष सभी दिशाओं में शुभ होते

---

१. बृहत्संहिता वास्तुविद्या २५-८७
२. बृ. वा. मा. - पृ. ११५ संस्करण २००३

हैं। यथा[१] -

क्षीरवृक्ष वटाश्वत्थरक्तपुष्पद्रुमास्तथा।
सकण्टका शाल्मली च प्लक्षोदुम्बरसंज्ञकौ ॥
अग्निकोणे सदा दुष्टा मृत्युपीडा प्रदायकाः।
पुन्नागफलिनी निम्बदाडिमाशोकजातिकाः ॥

नागकेशर-संपुष्पं जपाकुसुमकेसरे।
जयन्ती चन्दनं प्रोक्तं वचा चैवापराजिता ॥
मधुबिल्वाम्रभृङ्गाश्च नागरं ककुपादिकाः।
यत्र तत्र स्थिताश्चैते नारिकेलादयः शुभाः ॥

वृक्षरोपण स्वर्ग प्राप्ति कारक -

अश्वत्थ पीपल, कदम्ब, कदली, बीजपूरक जिसके घर में होते हैं, उसका विकास नहीं होता है। कटहल सभी दिशाओं में शुभदायक है। सभी दुष्टवृक्ष दक्षिणभाग में शुभप्रद होते हैं। एक पीपल, एक नीम, एक बरगद, दस ईमली, कैथ, बेल तथा आंवला, तीन या पांच आम का वृक्ष लगानेवाला नरक नहीं देखता है। यथा[२] -

अश्वत्थं च कदम्बं च कदली बीजपूरकम्।
गृहे यस्य प्ररोहन्ति स गृही न प्ररोहति॥

सर्वत्र पनसः शस्तो दक्षिणे सकलाः खलाः।
वृक्षानारोपयेदेवं स सदा सुखभागभवेत्॥

अश्वत्थमेकं पिचुमन्दमेवं न्यग्रोद्यमेकं दशचिञ्चिणीकम्।
कपित्थबिल्वामलकत्रयञ्च पञ्चाम्रवापी नरकं न पश्येत् ॥

टि. - छायानियम एवं तत्वात्मक निवेश के साथ २ स्वर्ग नरक की कल्पना महत्वपूर्ण है। लोकोपकार तथा वातावरण सन्तुलन में वृक्षों की अद्वितीय भूमिका हेतु है।

---

१. बृ. वा. मा. वाटिकारोपण श्लोक १७-२०
२. तत्रैव श्लोक २१-२३

नक्षत्र सम्बन्धित वृक्ष - यथा[१] -

नक्षत्रों के भौतिक तथा रसायनिक प्रभाव दर्शक भूमिस्थ वृक्षों का यहाँ वर्णन किया गया है।

अश्विनी	-	अश्वत्थ	स्वाति	-	अर्जुन
भरणी	-	मकरतरु	विशाखा	-	विकंक
कृत्तिका	-	गूलर	अनुराधा	-	बकुल (मौलसिरी)
रोहिणी	-	जामुन	ज्येष्ठा	-	अशोक
मृगशिरा	-	खदिर (खैरा)	मूल	-	सर्ववृक्ष
आर्द्रा	-	कृष्णवृक्ष	पू.षा	-	जामुन
पुनर्वसु	-	पुनर्नवा	उ.षा.	-	कटहल
पुष्य	-	पीपल	श्रवणा	-	अर्कवृक्ष
श्लेषा	-	नागवृक्ष	धनिष्ठा	-	शमी
मघा	-	वट - बरगद	शतभिषा	-	कदम्ब
पू.फा.	-	पलाश	पू.भा.	-	आम
उ.फा.	-	पाकड़	उ.भा.	-	महुक
हस्त	-	अरिष्टवृक्ष	रेवती	-	मधुवृक्ष - मडुक
चित्रा	-	श्रीवृक्ष			

ग्रहों के वनस्पति–

अर्कः पलाशः रवदिरस्त्वपामार्गोऽथ पिप्पलः।
औदुम्बरः शमी दुर्वा कुशाश्च समिधः क्रमात्॥

राशि सम्बद्ध वृक्षादि[२] -

मेष	-	धान्य	तुला	-	तिल
वृष	-	वनफल	वृश्चिक	-	ईख

१. जा. पा. अ. - पृ. ११७, श्लो. २६ से ३२।
२. जा. पा. आ. ६ - पृ. ११७ श्लो ३३।

मिथुन	-	हरितपत्रवृक्ष	**धनु**	-	अश्ववृक्ष
कर्क	-	उत्तमअन्न	**मकर**	-	जलीयवृक्ष
सिंह	-	वनवृक्ष	**कुम्भ**	-	जलीयपुष्प
कन्या	-	मूंग	**मीन**	-	जलज फलपुष्पादि।

चन्द्र तथा शनि मूल प्रधान ग्रह। वृष, सिंह, वृश्चिक तथा कुम्भ मूलसंज्ञक राशियां है।

ग्रह सम्बन्धित वृक्षादि[१]-

सूर्य	-	दृढ़काष्ठ वृक्ष - शीशम, शाल आदि।
चन्द	-	दूधवालेवृक्ष, रसवाले वृक्ष, देवदारू, कटहल, गन्ना आदि।
मंगल	--	कांटेदार वृक्ष एवं झाड़ियां, बबूल, खैरा कटुवृक्ष बेल आदि।
बुध	-	बिना फलबाले वृक्ष।
गुरु	-	सफलवृक्ष आम आदि।
शुक्र	-	फूल - चम्पा, चमेली आदि।

यथा सूर्यादि से उत्पन्न वृक्ष[२]–

अन्तः सारान जनयति रविर्दुर्भगानसूर्यपुत्रः।
क्षीरोपेतांस्तु हिनकिरणः कण्टकाढयांश्च भौमः॥

वागीशज्ञौ सफलविफलान् पुष्पवृक्षांश्च शुक्रः।
स्निग्धानिन्दुः कटुकविटपान् भूमिपुत्रस्तु भूयः॥

शुभोऽशुभर्क्षे रुचिरं कुभूमिजं करोति वृक्षं विपरीतमन्यथा।
परांशके यावती विच्युतः स्वकाद् भवन्ति तुल्यास्तरवस्तथाविधाः॥

वाटिका में दिशाभेद से वृक्षरोपण प्रकार[३]–

ईशान	-	आंवला	**अग्नि**	-	अनार

---

१. जा. पा. - पृ. ११८ से ११९ श्लो. ३४ से ४४ द्रष्टव्य।

२. जातक पारिजात ३/९-१०

३. जा. पा. - पृ. ११९ श्लो. ४२ से ४३

नैऋत्य	-	पाकड़	**वायव्य**	-	बेल
उत्तर	-	पाकड़	**धनु**	-	अश्ववृक्ष
दक्षिण	-	गूलर	**पश्चिम**	-	पीपल

मध्य में आम तथा नाना प्रकार के फल लगाने चाहिए।

मतान्तर से गृहवाटिका निर्माण प्रकार[१] -

दक्षिण तथा नैऋत्य के मध्य में जामुन, कदम्ब; पूर्व - ईशान मध्य में कटहल, आम; बागीचे के बाहर पूर्वदिशा में बांस, उत्तर में शमी, पश्चिम में खैर, दक्षिण में बकुल का वृक्ष अरिष्टनाशक एवं शुभप्रद है। १. आम, २. पीपल, ३. बरगद, ४. पाकड़, ५. नीम, ६. जामुन, ७. इमली, ८. बांस के बागीचे हो सकते हैं। सर्वश्रेष्ठ आम का वाग होता है। फलद वृक्षों की अधिक प्रशंसा की गयी है। अपुत्री के लिए तो और अधिक पुण्यप्रद कहा है। वराह[२] मत में मार्ग के दोनों किनारे वृक्षरोपण, कूप तथा आरामशाला बनाना पुण्यप्रद है। सामर्थ्य[३] भेद से घर के बायें दायें वाग, बावड़ी वाग मध्य में प्रपातमण्डप तथा फुहारा लगाना चाहिए। फुहारा के समीप वाग में चम्पक, कुन्द, चमेली, बेला, नरमाली, जाती (पीले फल की केतकी) श्वेतगुलाब, नारियल, कनेर, बसन्तलता, रक्तपुष्प, जम्बीरी नीव, बैर, सुपारी, महुआ, आम, बेल, केला, चन्दन, वरगद, पीपल, हरितकी, आंवला, इमली, अशोक, कदम्ब, नीम, खजूर, अनार, कपूर, अगर, किंशुक, श्वेतकनेर, जायफल, नींबू, नागबेल, विजौरानीबु, तिन्दुकी, कलिहारी आदि वृक्ष वाग में राजा या तत्सम व्यक्ति लगावें। मण्डपनिर्माण आदि विनोदाभिप्राय से वाग मध्य में बनाना चाहिए। इसके विधान भी मिलते हैं।

वृक्षरोपण मुहूर्त्त[४]

हस्त पुष्प अनुराधा तीनों उत्तरा, रोहिणी विशाखा मृगशीर्ष मूल, श्रवण, अश्विनी, नक्षत्र, केन्द्रस्थ गुरु तथा शुक, जलचर राशिस्थ चन्द्र, जलचर लग्न, चतुर्थस्थ शुभग्रह वा दृष्टि, शुभवार तथा लग्न में लता, गुल्म, पादप तथा वृक्ष लगाना शुभ है।

---

१. जा. पा. आ. पृष्ठ ११७ श्लोक ३३
२. तत्रैव पृष्ठ ११८-११९ श्लोक ३४-४४
३. तत्रैव पृष्ठ ११९ श्लोक ४२-४३
४. तत्रैव पृष्ठ ११७ श्लोक ३३

शिलान्यासविधि

डॉ० नरोत्तमदत्तशर्मा

जीव के गर्भस्थिति में आने के साथ ही उसके माता-पिता ऐसी जगह के चयन का विचार करते हैं जहाँ उसे सर्दी, गर्मी, वर्षा और भयमुक्त वातावरण प्रदान करते हुए उसका पालन-पोषण किया जा सके। कीट-पतंग, सरिसृप, पशु-पक्षी तथा मानवादि जातियाँ अपने विवेक के आधार पर समुद्रतट, वृक्षों के कोटर, पर्वत कन्दराएं वल्लीक और उत्तम भू-भाग पर घास-फूस, मिट्टी तथा पाषाण आदि से आवास का चयन और निर्माण करते हैं।

आवास का सम्बन्ध प्राणीमात्र के जन्म से ही होने के कारण वह इस सांसारिक धरातल पर अपने क्रियमाण कर्मों का उपभोग करते हुए सृष्टि क्रम को बाधित करता है। प्राकृतिक आपदाओं से रहित जीवन जीते हुए सामाजिक और आर्थिक विकास की परिकल्पनाओं को साकार रूप में परिणत करने का अपना लौकिक और पारलौकिक दायित्वों की पूर्ति का संकल्प करता है।

प्राणियों में मनुष्य उत्तम होता है और वह अन्य प्राणियों की अपेक्षा अपने आवास के साथ-साथ ऐसे पालतू पशु-पक्षियों के लिए भी उनको उचित आवास की सुविधा प्रदान करता है और पारलौकिक सुख की इच्छा के लिए परोपकार की दृष्टि से सार्वजनिक निवास, सरोवर, कूप, मन्दिर आदि का निर्माण भी कराता है। मनुष्य अपना आवास सुन्दर एवं सभी सुख सुविधाओं से युक्त बनाकर समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहता है तथा स्वयं एवं परिवार की दीर्घायु सामाजिक आर्थिक एवं शैक्षणिक उन्नति हेतु लगातार प्रयासरत रहता है।

पत्नी, सन्तान तथा अपने इष्ट मित्र कुटुम्बियों को आनन्द और सुख देने वाला तथा पुरुषार्थ चतुष्टय धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का प्रदाता एवं प्राणियों का आवास स्थान विभिन्न ऋतुओं से उत्पन्न होने वाला सन्ताप, पुण्य और परोपकार के प्रदाता, वापी, कूप, तालाब, देवालय आदि का मूल आधार मनुष्य का घर या भवन ही होता है। जिसके पास जितनी अधिक भूमि, भव्य और विशाल भवन होते हैं उसे समाज में उतनी ही प्रतिष्ठा और आदरणीय स्थान प्राप्त होता है।

सर्वप्रथम जगत्कर्त्ता ब्रह्माजी ने समस्त सुखों के मूलगृह एवं भवन के निर्माण का ज्ञान एक ऐसे अद्‌भुत प्राणी को प्रदान किया जिसे वास्तुपुरुष के नाम से जाना जाता है। वस् धातु से निष्पन्न होने वाला वास्तु शब्द का अर्थ रहना या आवास करना है। भारतीय संस्कृति के मूलग्रन्थ वेदों में यज्ञशालाएं, शस्त्रगृह, पशुबन्धनादि का स्थान तथा यज्ञस्थल एवं भवन के निर्माण के लिए भूमि चयन एवं पर्णशालाओं के निर्माण की विधियों का उल्लेख प्राप्त होता है। प्राचीन काल में संस्कृत महाकाव्यों रामायण महाभारतादि में राज प्रसाद, देवालय तथा सुन्दर और भव्य भवनों का सजीव वर्णन हमारे देश की वास्तुविद्या और कला की पराकाष्ठा का परिचायक है।

प्राचीन काल से ही वास्तुशास्त्र के अनुसार देवालय, राजप्रासाद, कूप, सार्वजनिक भवन तथा निजी आवास निर्माण का द्रुम चला आ रहा है। किन्तु वर्तमान समय में जनसंख्या विस्फोट तथा पाश्चात्य संस्कृति के दुष्प्रभाव से भूमिचयन और भवन निर्माण में भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाशादि पाँच भौतिक तत्त्वों को भवन में समुचित स्थान न मिलने के कारण भवन निर्माण विधि के अनुसार निर्माण एवं भूमि का चयन न करने पर तथा भारतीय वास्तुशास्त्र का सामान्य ज्ञान जनसाधारण तक न पहुँचने के कारण समस्त मानव समुदाय आज रोग, शोक तथा भौतिक एवं आध्यात्मिक अवनति के साथ मानसिक तथा घोर अशान्ति को प्राप्त हो रहा है। इस अशान्ति का मूल कारण वास्तुशास्त्र के सिद्धान्तों के विपरीत अशास्त्रीय एवं स्वेच्छाचारिता और वैदेशिक संस्कृति के आधार पर किए गए भवन निर्माण ही हैं।

प्राचीन समय की बात है कि एक विशाल देहधारी प्राणी के जन्म से सभी इन्द्रादिक देवता आश्चर्यचकित हुए जिससे समस्त देवताओं में भय व्याप्त हुआ और सबने मिलकर इस प्राणी को पकड़ा तथा इसका सिर नीचे करते हुए पृथ्वी पर गिरा दिया था। इस महाभूत का सिर ईशान (उत्तर-पूर्व) कोण में एवं पैर नैर्ऋत्य (दक्षिण-पश्चिम) कोण में थे। इस महाभूत का जो अंग जिस देवता ने पकड़ा था उसी अंग पर बैठ गया। वास्तुराजवल्लभ में मण्डनसूत्रधार ने अन्धकासुर और शिवजी के युद्ध में शङ्कर जी के शरीर से पसीना गिरा जिससे यह महाभूत पैदा हुआ। ब्रह्मा ने इसी प्राणी को वास्तुपुरुष नाम दिया।[१]

---

१. बृहत्संहिता - वास्तुविद्या अध्याय: श्लोक २-३
विश्वकर्मविद्याप्रकाश - रविदत्तशास्त्रि राजवैद्यविरचित - २२ (श्लोक)
वास्तुमुक्तावली - पं० श्री राधारमण विरचित - (श्लोक-१२२)
विश्वकर्मप्रकाश - डॉ० उमेश, पुरी ज्ञानेश्वर श्लोक (५-११०)

भाद्रपद मास, कृष्णपक्ष की तृतीया, शनिवार कृत्तिका नक्षत्र, व्यतिपात योग, विष्टिकरण तथा कुलिक मुहूर्त्त में इस महाभूत की उत्पत्ति हुई। उस समय यह भयंकर गर्जना करता हुआ ब्रह्मा जी के सम्मुख पहुँचा। वहाँ जाकर उसने प्रार्थना की–हे प्रभो आपने इस चराचर जगत् की सृष्टि की है किन्तु बिना अपराध के देवता मुझे अत्यन्त कष्ट देते हैं, इसकी प्रार्थना सुनकर ब्रह्माजी ने प्रसन्न होकर उसे वरदान दिया कि ग्राम, नगर, दुर्ग, शहर, प्रासाद, जलाशय तथा उद्यान के निर्माणारम्भ के समय हे वास्तुपुरुष जो तुम्हारा पूजन नहीं करेगा, वह दरिद्रता और मृत्यु को प्राप्त होगा। उसे पग-पग पर बाधाओं का सामना करना पड़ेगा और भविष्य में तुम्हारा आहार बनेगा। ऐसा कहकर ब्रह्मा जी अन्तर्धान हो गए। अतः गृहारम्भ और गृह प्रवेश के समय वास्तुपूजा करनी चाहिए।[१]

गृहकर्म में इक्यासी एवं प्रासाद, मन्दिर एवं राजमहल कार्य में चौंसठ कोष्ठात्मक वास्तुमण्डल निर्माण एवं पूजा का विधान है।

वास्तुपुरुष के मस्तक पर ब्रह्मा, कानों में पर्जन्य और दिति, गले में आप, कन्धों पर जय और अदिति, स्तनों में अर्यमा तथा भूधर हृदय में आपवत्स, इन्द्रादि पाँच देवता दक्षिण बाहु में और नागादि वामभुजा में हैं। सावित्र और सविता दोनों दक्षिण हाथ में, रुद्रादि दो देव वाम हाथ में है और मैत्रगण उरु से है, ब्रह्मा नाभि तथा पृष्ठ में मेढ्र इन्द्र और जय दोनों जानु में अग्नि तथा रोग, गुल्फों में पूषा और नन्दिगणादि सात देवता हैं। पितृगण पैरों में हैं। ईश पर्जन्य, जय इन्द्र, सूर्य, सत्य भृश, और आकाश इनको पूर्व में, अग्नि, पूषा, वितथ, गृहक्षत, यम गन्धर्व, भृग, भृग और पितृदेव दक्षिण में, दौवारिक, सुग्रीव, पुष्पदन्त, वरुण, असुर, शोष और पापयक्ष्मा पश्चिम में रोग, नाग मुख्य, भल्लाट, कुबेर, शैल, अदिति और दिति को उत्तर में स्थापित कर ये ३२ देव हुए और वक्ष्यमाण १३ देवता की पूजा मध्य में करें। पूर्व में अर्यमा, दक्षिण में सूर्य, पश्चिम में मित्र, उत्तर में पृथ्वीधर और मध्य कोष्ठों में ब्रह्मा की पूजा करें। बाहर ईशान कोण में चरकी, अग्नि में विदारिका, नैर्ऋत्य में और पूजनिका वायव्य में पाप नामवाली की उक्तविधि से पूजा करें। ईशान में शिखी अग्निकोण में वायु कुबेर के बाद शैल का भी नाम दृष्टिगोचर ग्रन्थों में है।[२]

---

१. विश्वकर्मप्रकाश - डॉ० उमेशपुरी ज्ञानेश्वर - श्लोक ११ से १८
वास्तुमुक्तावली - श्री राधारमण - श्लोक १२३

२. वास्तुमुक्तावली - श्री राधारमण - श्लोक १२६ से १३३ तक
बृहत्संहिता - श्री वराहमिहिर - श्लोक - ५१ से ५४ तक

वास्तुपुरुष की स्थिति का निर्णय करने के लिए गेहारम्भ की तिथि संख्या में ४ युक्त करके द्विगुणा करें उसमें गृहस्वामी के नामाक्षर संख्या को जोड़कर ३ का भाग दें। यदि १ शेष बचे तो स्वर्ग में, २ शेष बचे तो पाताल में तथा शून्य बचे तो मृत्युलोक में वास्तुपुरुष का निवास होता है। ऐसा पराशर ऋषि ने कहा है। स्वर्गलोक में वास्तुपुरुष का निवास हो तो लाभ, पाताल में वास्तुपुरुष हो तो निरन्तर लक्ष्मी प्राप्ति और मृत्युलोक में वास्तुपुरुष का वास मृत्युकारक होता है।[1]

सवेदास्तिथयोद्विघ्ना नामाक्षर समन्वितः।
त्रिभिश्चैव हरेद्भागं शेषः पुरुष उच्यते।।

एके च वसतिः स्वर्गे द्वाभ्यां पातालमेव च।
शून्ये तु मृत्युलोके स्यादिति पाराशरोऽब्रवीत्।।
स्वर्गेवासे भवेल्लाभः पातालेषु श्रियः सदा।
मृत्युलोके भवेन्मृत्युर्विचिन्त्य गृहमारभेत्।।[2]

सूर्य के सिंह, कन्या, तुला इन तीन राशि में होने से नैर्ऋत्य कोण में, वृश्चिक, धन, मकर इन तीन राशि में होने से वायव्य कोण में कुम्भ, मीन, मेष इन तीन राशि में होने से ईशान कोण में और वृष, मिथुन, कर्क इन तीन राशियों में अग्निकोण में वास्तुपूजा करने से पूजा करने वाले को शुभ फल की प्राप्ति होती है। इसी के अनुकूल गृहादि के आरम्भ में हवन एवं वास्तुपूजा करे परन्तु कुछ आचार्यों ने यज्ञ में वास्तुपूजन नैर्ऋत्य कोण में भी लिखा है।[2]

वास्तुवेदी के चारों कोणों में ईशान कोण से आरम्भ करके शंकु यथाक्रम से गाड़ना चाहिए। शंकुओं को गाड़ते समय इस मन्त्र को पढ़ते रहना चाहिए–

विशन्तु भूतले नागा लोकपालाश्च सर्वशः।
अस्मिन् गृहेऽवतिष्ठन्तु आयुर्बलकरा सदा।।

चारों कोणों में शंकुओं को गाड़कर चावल दही से शंकुओं के पार्श्व में निम्न मन्त्र से बलि देनी चाहिए।

---

१. वास्तुमुक्तावली – श्री राधारमण – श्लोक १३४ से १३६ तक
२. वृहद्वास्तुमाला – १२८-१३०
३. वास्तुमुक्तावली – श्री राधारमण – श्लोक १४०

अग्निभ्योऽप्यथ सर्वभ्यो ये चान्ये तत्समाक्षिताः।
तेभ्यो बलिं प्रयच्छामि पुण्यमोदनमुत्तमम्।।[१]

शिलान्यास, गृहनिर्माण कार्य आरम्भ के पूर्व निर्दिष्ट समय एवं मुहूर्त्त पर किए गए कर्म को कहते हैं। गृह निर्माण मुहूर्त्त का तात्पर्य शिलान्यास से ही जाना जाता है। पराशर के मतानुसार नींव खोदना भाद्रपद मास में पूर्व दिशा, मार्गशीर्ष पौष माघ में दक्षिण दिशा, फाल्गुन में पश्चिम तथा ज्येष्ठ मास में उत्तर दिशा के तीन भागों में ऊपर एवं अधोभाग में क्रमशः मध्यभाग में खोदना चाहिए। क्योंकि ऊपर के भाग से नींव खोदने से मृत्यु, पीछे से खोदने से रोग तथा चरण भाग में खोदने से तुष्टि, अभय एवं बगल के खोदने से गृहस्वामी को पुत्रधनादि का लाभ होता है। वास्तुशास्त्र में कहा गया है कि वास्तुपुरुष के सिर, पुच्छ दक्षिण कुक्षि और पृष्ठभाग में दीर्घायु की अभिलाषा रखने वाले पुरुष को इस ओर गड्ढा खात नहीं बनाना चाहिए। इसलिए बाईं ओर की दिशा में कुछ भाग छोड़कर नींव के लिए खात या खड्ढा खोदना शुभ होता है। खात का निर्णय सूर्य संक्रान्ति के अनुसार किया जाता है। अतः निम्नानुसार शिलान्यास तथा शेष मुख और खात का निर्णय करना चाहिए। खात राहु के मुख में नहीं करना चाहिए। मुखस्थ विदिशा से पाँचवी (१ ईशान, २ पूर्व, ३ आग्नेय, ४ दक्षिण, ५ नैर्ऋत्य) विदिशा राहु की पुच्छ संज्ञक है। मुख और पुच्छ के बीच भाग को पीठ कहते हैं। पीठ से खात शुभ होता है। यथा–देवालय के लिए खात में चैत्र १२, वैशाख १, ज्येष्ठ २ में राहु का मुख ईशान कोण में पुच्छ नैर्ऋत्य कोण में है तो पीठ आग्नेय कोण में हुई इसी कोण से खात का आरम्भ करें।[२] इसी प्रकार सभी का विचार करना चाहिए)

विदिशाएं	ईशान में	वायव्य में	नैर्ऋत्य में	आग्नेय में
देवालय	१२।१।२	३।४।५	६।७।८	९।१०।११
गृहारम्भ	५।६।७	८।९।१०	११।१२।१	२।३।४
जलाशय	१०।११।१२	१।२।३	४।५।६	७।८।९

देवालये गेहविधौ जलाशये राहोर्मुखं शम्भुदिशो विलोमतः।
मीनाऽर्क सिंहाऽर्कस्त्रिभे खाते मुखात् पृष्ठ विदिक् शुभभवेत्।।[३]

---

१. विश्वकर्मप्रकाश - डॉ० उमेशपुरी ज्ञानेश्वर - श्लोक १३ से १६ तक
२. विश्वकर्मविद्याप्रकाश - रविदत्तशास्त्रि राजवैद्य - श्लोक - ३
३. मुहूर्त्त चिन्तामणि १२/२०

शिला प्रमाण के विषय में शास्त्रों का प्रमाण, प्रयोग, वर्ण के अनुसार करने का उल्लेख है। ब्राह्मण २१ अंगुल लम्बी, १०.५ अंगुल चौड़ी तथा ५.२५ अंगुल ऊँची शिला का प्रयोग करे। क्षत्रिय १७ अंगुल लम्बी, ६.५ अंगुल चौड़ी तथा ३.२५ अंगुल ऊँची शिला प्रयुक्त करे। वैश्य १३ अंगुल लम्बी, ६.५ अंगुल चौड़ी तथा ३.२५ अंगुल ऊँची शिला ग्रहण करे। शूद्र ९ अंगुल लम्बी, ४.५ अंगुल चौड़ी तथा २.२५ अंगुल ऊँची शिला ले। किन्तु आजकल शिलाओं के प्रभाव के अनुसार प्रयोग नहीं किया जाता है। तत्काल जैसी शिलाएं प्राप्त होती है उन्हें प्रयोग किया जाता है। पत्थर के मकान में पाषाण शिला, पहाड़ी घर में पत्थर का ढेला, ईंटों के घर में ईंट की शिलाओं का स्थापन होना चाहिए। लकड़ी के मकान में इच्छानुसार शिला स्थापित की जाती है। पाँचों शिलाएं मजबूत और सुन्दर होनी चाहिए और उनमें किसी भी प्रकार का दोष न हो तथा इनकी लम्बाई–चौड़ाई और ऊँचाई ऊपर निर्दिष्ट परिमाण से अधिक एवं कम नहीं होनी चाहिए और कृष्ण वर्ण शिला का प्रयोग भी नींव में नहीं करना चाहिए। स्वर्ण कुदाल से कोणों के मध्य भाग में नाभि पर्यन्त गड्ढे में शिलास्थापन शुभ होता है।[1]

शिलान्यास कहाँ करें? इस विषय में विशेष विवाद है, किसी का तो मत है कि अग्नि कोण में शिलान्यास हो।

दक्षिणपूर्वे कोणे कृत्वा पूजां शिलां न्यसेत् प्रथमम्।
शेषाः प्रदक्षिणेन स्तम्भांश्चैव प्रतिस्थाप्याः।।[2]

किसी का मत है कि देवालये गेह विधौ के अनुसार राहु की वामकुक्षि में शिलान्यास करें। विश्वकर्माप्रकाश में लिखा है कि **"ईशानमादितः कृत्वा प्रादक्षिण्येन विन्यसेत्।"** लल्ल का मत है **"त्यजेद्देश शिरोभागे"** इत्यादि और सबका सम्मान भी देश परत्वेन है–अधिकांश राहु पृष्ठ भाग में शिलान्यास किया जाता है। अग्निपुराण के अनुसार नियमानुसार पूजन विधि एवं शिलान्यास विधि लिखी जा रही है।

यजमानः सपत्नीकः शुचिः नूतनवस्त्रोपवस्त्रयज्ञोपवीतं संधार्य्य प्राङ्मुखं उपविश्य दीपं प्रज्वाल्यः ॐ पवित्रेस्थो वैष्णव्यो० इति मन्त्रेण पवित्रधारणं कृत्वा आचम्य ॐ अपवित्रः पवित्रो वेति मंत्रेण आत्मानं पूजासामग्रीञ्च जलेन संप्रोक्ष्य शान्ताकारं इति विष्णुध्यानं कृत्वा प्राणायामं कुर्य्यात् ॐ अपसर्पन्तु–इति मन्त्रेण गौरससर्षपान् चतुर्दिक्षु विकिरेत्। शान्तिपाठं स्वास्तिपाठं वा

---

१. विश्वकर्माप्रकाश - डॉ० उमेशपुरी ज्ञानेश्वर
२. वृहद्वास्तुमाला - १२४

कुर्य्यात् देशकालौ संकीर्त्य अमुकगोत्रः अमुकशर्म्माहं, बर्माऽहं, गुप्तोहं, दासोऽहं अस्मिन् स्थले चिरकालनिवासार्थं पुत्रपौत्रधनधान्यसमृद्ध्यर्थं गृहारम्भं करिष्ये। तत्र गृहनिर्माणाय शिलान्यासं करिष्ये। तदङ्गत्वेन गणपति- गौरीपूजनं कलशस्थापनञ्च करिष्ये।

गणेशादिपूजनं कृत्वा उपशिलासहितां पंचशिलां स्थापयेत्। उपाशेलोपरिक्रमेण पद्मं १, सिंहासनं २, तोरणच्छत्रं ३, कूर्म ४, चतुर्भुजं विष्णुञ्च लिखेत्, उपशिलासु नन्दाद्यावाहनम्।

ॐ भूर्भुवः स्वः नन्दायै नमः, नन्दामावाहयामि। ॐ भूर्भुवः स्वः भद्रायै नमः, भद्रामावाहयामि। ॐ भूर्भुवः स्वः जयायै नमः, जयामावाहयामि। ॐ भूर्भुवः स्वः रिक्तायै नमः, रिक्तामावाहयामि। ॐ भूर्भुवः स्वः पूर्णायै नमः, पूर्णामावाहयामि। ततः ॐ अग्निमूर्धादिवः ककुत्पतिः पृथ्वीव्याऽअयम्। अपा ठं० रेताँ सिजिन्वति इति मन्त्रेण सप्तमृत्तिकोदकेन शिलां स्थापयेत्। ततः ॐ यज्ञायज्ञावोऽअग्नये गिरा गिरा च दक्षसे।। प्रप्रवयममृतञ्जातवेदसम्प्रियाम्मित्र श ठं० सिषम्।। इति पञ्चकषायेण स्नापयेत्।[१] गायत्र्या गोमूत्रेण स्नापयेत्। गन्धद्वारामिति गोमयोदकाभ्यां स्नापयेत्। गन्धद्वारेती गन्धोदकेन स्नापयेत्। ॐ पयः पृथिव्याम्पयऽओषधीषु पयोदिव्यन्तरिक्षे पयोधाः। पयस्वतीः प्रदिशः सन्तु मह्यम्।। इति पंचगव्येन स्नापयेत्। ॐ आप्यायस्वसमेतुते विश्वतः सोमत्वृष्णतम्। भवा वाजस्य सङ्गथे।। इति दुग्धेन। ॐ दधिक्राव्णोऽअकारिषञ्जिष्णोरश्वस्य व्याजिनः। सुरभिनो मुखाकरत् प्रणऽआयू ठं० षितारिषत्।। इति दध्ना। ॐ घृतम्मिमिक्षे घृतमस्य योनिर्घृतेश्रितो घृतं वस्यधाम। अनुष्वधमावहमादयस्व स्वाहा कृतं वृषमवक्षि हव्यम्।। इति घृतेन। ॐ मधुव्वाताऽऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। मधुनक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिव ठं० रजः। मधुद्यौरस्तु नः पिता।। मधुमान्नो वयनस्पतिर्मधुमांश्ऽअस्तुसूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः।। इति मधुना। ॐ अपाठं० रसमुद्वयस सूर्ये सन्तठं० समाहितम्। अपाठं० रसस्य यो रसस्तंवो गृह्णाभ्युत्तमपुपयामगृहीतोसीन्द्रायत्वा जुष्टङ्गृह्णाम्येषते योनिरिन्द्रायत्वा जुष्टतमम्।। इति शर्करया। ॐ याः फलिनीर्य्या अफलेतिफलोदकेन। ॐ देवस्यत्वेति कुशोदकेन। ॐ काण्डात् काण्डादिति दूर्वोदकेन। ॐ हविष्मतीरिमाऽआपोहविष्मांडआविवासति। हविष्मान् देवोऽअदध्वरो हविष्मोंऽअस्तु सूर्यः।। इति गो शृङ्गोदकेन। ॐ पञ्चनद्यः सरस्वतीमंपिबन्ति सस्त्रोतसः सरस्वती तु पञ्चधासो देशेभवत् सरित्।। इति नदीजलैः स्नापयेत्।

ॐ इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वती शतद्रुस्तोमं सचता परुष्णया। आसिक्न्यामरुद्वृधे वितस्तयोजीकीयेश्रृणुह्याविषोमया।। इति गङ्गाजलेन स्नापयेत। ततः पद्म-महापद्म-शङ्ख-विजय-

---

१. पीपल पाकर वड़ गूलर बेत के मूल के छाल को 'पंच कषाय' कहते हैं।

सर्वतोभद्र-पञ्चकलशान् संस्थाप्य नाममन्त्रैः पूजयेत्। मध्ये पद्मकलशोपरि कूर्मसहितान् वासुकि-तक्षक-कुलिक-कर्कोटक-पद्म- शङ्खचूड-महापद्म-धनञ्जयेत्यष्ठनागान् स्थापयित्वा ततः। ॐ वास्तोष्पते प्रतिजानीह्यस्मान् स्वावेषोऽअनमीवो भवानः। यत्वेमहे प्रति तन्नोजुषस्वशन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।। इति मन्त्रेण पूजयेत्। ततोऽर्घ्यम्। सर्वलक्षणसम्पन्न सर्वेश कलशाधिप। स्थानं देहि गृहं कर्त्तुं विष्णुरूपनमोऽस्तुते।। इति कूर्माय एष अर्घः। हिमकुन्दप्रतिकाशनागानन्त महाफणिन्। स्थानं देहि गृहं कर्त्तुं गृहाणार्धं नमोऽस्तु ते।। इति नागेभ्यः। तत आचार्यादिवरणं कृत्वा वेदिकां निर्माय हवनं कुर्य्यात्। ॐ प्रजापतये स्वाहा, इदं प्रजापतये न मम। ॐ इन्द्राय स्वाहा, इदमिन्द्रा०। ॐ अग्नये स्वाहा, इदमग्नये न०। ॐ सोमाय स्वाहा, इदं सोमा०। ॐ भूः स्वाहा, इदमग्नये। ॐ भुवः स्वाहा, इदं वायवे। ॐ स्वः स्वाहा, इदं सूर्याय। ॐ त्वन्नो अग्ने०। ॐ सत्वन्नो०। ॐ अयाश्चाग्ने०। ॐ येतेशतं०। ॐ उदुत्तमं०। ॐ त्र्यम्बकं १०८। ॐ पृथिव्यै स्वाहा। ॐ नन्दायै स्वाहा २८। ॐ भद्रायैस्वाहा २८। ॐ जयायै स्वाहा २८। ॐ रिक्तायै स्वाहा २८। ॐ पूर्णायै स्वाहा। ॐ पद्माय स्वाहा। ॐ महापद्माय स्वाहा। ॐ शङ्खाय स्वाहा। ॐ विजयाय स्वाहा। ॐ सर्वतोभद्राय स्वाहा।

ततो विहितदिशि पूर्वनिखनितखातं गोभयजलाभ्यामुपलिप्य पृथिवीं ध्यायेत्। कूर्म पृष्ठो परिष्ठां च शुक्लवर्णां चतुर्भुजाम्। हेमगर्भाक्षमारूपां शेषस्योपरिशायिनीम्।। ॐ स्योनापृथिवीनो भवानृक्षरा निवेशनी। यच्छानः शर्मसप्रथाः।। अवनः शोशुचदधम्।।

इति मन्त्रेण पृथिवीं कूर्मं च ध्यात्वा मनसा सम्पूज्य। ॐ भूम्यै नमः मनसिध्यायेत्। आगच्छ सर्वकल्याणि वसुधे लोकधारिणि। उद्धृतासी वराहेण सशैलवनकाननने। गृहाण करवाम्यहात्वदूर्ध्वां शुभलक्षणम्। गृहाणार्घ्यं मया दत्तं प्रसन्ना सुभदा भव।। वसुधे हेमगर्भासि शेषस्योपरिशायिनी। तवपृष्ठं ददाभ्येतद् गृहाणाध्यो धरित्रि मे। ततो लाजासक्तुदूर्वासहितैः भूम्यै बलिं दत्त्वा प्रार्थयेत्। सर्वबीजसमायुक्तं सर्वरत्नौघसंयुते। पूजिते परमाचार्यगन्धमाल्यैरलङ्कृतेः। इष्टं कामं प्रयच्छत्वं त्वामहं शरणागतः। पुत्रदारधनादुष्टां धर्मवृद्धिकरीभव।। आधार शिलां धृत्वा तदुपरि मध्ये अक्षतान् क्षिपेत्। लक्ष्मी कलशजलं चं गर्ते क्षिपेत्। ततो मध्वाज्यपारदसुवर्ण पञ्चरत्न गन्धादिविभूषितं पद्मकुम्भं गर्तमध्ये आधार शिलो परि। ॐ नाभिर्मेचित्तं विज्ञानभ्पायुर्मे पचति र्भसत्। आनन्दनन्दावाण्डौ मे भगः सौभाग्यम्पदः।। जङ्घाभ्याम्पद्भ्यान्धर्मोस्मि व्विशिराजा प्रतिष्ठितः।। ॐ स्थिरो भव वीडवङ्गऽआशुर्भववाज्यर्वन्।। पृथुर्भव सुखदस्त्वमग्नेः पुरीष वाहनः। इति मन्त्राभ्यां ॐ पद्मायै नमः, आधारशक्त्यै नमः स्थापयेत्। ततश्चतुर्दिक्षु महापद्मादींश्चतुरः कुम्भान् स्थापयित्वां पंचोंपचारैरर्चयेत्।

कुम्भसमां इष्टिकां मृत्तिकां वा अन्यद्दृढकरणवस्तु दत्त्वा मध्ये पूर्णास्थापयेत्।

पूर्णात्वं सर्वदा पूर्णान् लोकांश्च कुरु काश्यपि।
आयुर्दा कामदा देवि धनदा सुतदा तथा।।
गृहधारा वास्तुमयी वास्तुदीयेन संयुता।
त्वामृते नास्ति जगतामाधारश्च जगत्प्रिये।।

ततः पूर्वे नन्दां स्थापयेत्।

नन्दे त्वं नन्दिनी पुंसां त्वामत्र स्थापयाम्यहम्।
वेश्मनि त्विह सन्तिष्ठ यावच्चान्द्रार्कतारकाः।।

आयुः कामं श्रियं देहि देववासिनि नन्दिनि।
अस्मिन् रक्षा त्वया कार्या सदा वेश्मनि यन्त्रतः।।

ततो दक्षिणे भद्रां स्थापयेत्।

भद्रे त्वं सर्वदा भद्रं लोकानां कुरुकाश्यपि।
आयुर्दा कामदा देवि सुखदा च सदा भव।।
त्वामत्र स्थापयाम्यहा गृहेऽस्मिन् भद्रदायिनि।

ततः पश्चिमे जयां स्थापयेत्।

गर्गगोत्र समुद्भूतां त्रिनेताञ्च चतुर्भुजाम्।
गृहेऽस्मिन् भद्रदायिनि ततः पश्चिमे जयां स्थापयेत्।

गर्गगोत्रसमुद्भूतां त्रिनेताञ्च चतुर्भुजाम्।
गृहेऽस्मिन् स्थापयाम्यहा जयां चारुविलोचनाम्।।

नित्यं जयाय भूत्ये च स्वामिनो भव भार्गवि।

तत उत्तरे रिक्तां स्थापयेत्।

रिक्ते त्वं रिक्तदोषग्ने सिद्धिभुक्तिप्रदेशुभे।
सर्वदा सर्वदोषहिना तिष्ठास्मिस्तत्र नन्दिनि।।

तदीशानभागे-चतुर्विंशत्याङ्गुलं षोडशाङ्गुलं वा खादिरस्य पालाशस्य वा कीलं स्थापयेत्।

ॐ यथाचलो गुरुर्मेरु दावा समचलं मम।
आरोपितं गृहस्तम्भं तथा त्वमचलं कुरु।।

आचाराद् गर्तमध्ये नारिकेलफलं स्थापनीयम्। तदुपरि लोक पालेभ्यो बलिं दद्यात्। यथा पूर्व दिशि गजवाहनाय वज्रहस्ताय तेजोधिपतये एष दधिमाषभक्तबलिरिन्द्राय नमः।।१।। दक्षिणे-छागवाहनाय शक्ति हस्ताय वैश्वानरमूर्त्तये एष वैश्वनानराय नमः।।२।। दक्षिणे-महिषवाहनाय दण्डहस्ताय यममूर्त्तये एष यमाय नमः।।३।। नैर्ऋत्यकोणे गजवाहनाय खड्गहस्ताय निर्ऋतिमूर्त्तये एष निर्ऋतये नमः।।४।। पश्चिमे-गरुडवाहनाय शङ्ख-चक्र-गदा-पद्महस्ताय वरुणमूर्त्तये एष वरुणाय नमः।।५।। वायत्याम्-क्षेत्रपालाय मृगवाहनाय वायुमूर्त्तये एष वायवे नमः।।६।। उत्तरे-कुबेराय गदाहस्ताय नरवाहनाय एष कुबेराय नमः।।७।। ईशाने-वृषभवाहनाय त्रिशूलहस्ताय त्रिनेत्राय एष महादेवाय नमः।।८।। मध्ये पातालक्षेत्राय सहस्त्रफणाय द्विसहस्त्रलोचनाय वासुकीनागाय शक्तिहस्ताय सर्वनागाधिपतये एष दधिभाषबलिं समर्पयामि।।९।। ॐ नन्दायै नमः एष०।।१।। ॐ भद्रायै नमः एष०।।२।। ॐ जयायै नमः एष०।।३।। ॐ रिक्तायै नमः एष०।।४।। ॐ पूर्णायै नमः एष०।।५।। ततः खातं परिपूर्य पुनः षोडशोपचारैः यथोपचारैर्वा पूजयेत्।। आचार्याय दक्षिणा देया। ऋत्विग्भ्यो ब्रह्मणे च गोदानं भूयसी दानं च करणीयम्। ततः विश्वकर्मायुधपूजनम्। अज्ञानात् ज्ञानतो वापि दोषाः स्युश्च यदुद्भवाः। नाशय त्वरितान् सर्वान् विश्वकर्मन नमोऽस्तु ते।। ततः कुशं धृत्वा तदुपरि खनित्रपूजां कुर्यात्। त्वष्ट्रात्वं निर्मितः पूर्व लोकानां हितकाम्यया। पूजितोऽसि खनित्रित्वं सिद्धिदाभवनो ध्रुवम्।। ततः गृहनिर्माणकर्त्रे किञ्चिद् द्रव्यं देयम्। ततः प्रार्थना विसर्जनं ॐ विष्णवे नमः ३।।[१]

आशीर्वाद ग्रहण करने के पश्चात् ब्राह्मणों को भोजन एवं दक्षिणा आदि भेंट कर अपने इष्ट मित्र बन्धु-बान्धवों के साथ प्रसाद ग्रहण करें।

इस प्रकार शास्त्रीय विधान से गृहारम्भ करके निर्मित-गृह आयु-आरोग्य, ऐश्वर्य एवं व्यापार तथा जीवन में उत्तरोत्तर उन्नति के शुभ अवसरों की प्राप्ति एवं धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष चर्तुवर्ग के फल का सरल मार्ग प्रदान करने वाला होता है।।

---

१. वास्तुमुक्तावली - श्री राधारमन - पृष्ठसंख्या १०७ से ११३ तक।
कर्मठगुरु - श्री मुकुन्द वल्लभ ज्योतिषाचार्य - पृष्ठ संख्या २०८ से २०६ तक

बाग एवं वाटिका

डॉ० (श्रीमती) शैलजा पाण्डेय

भारतीय वास्तुशास्त्र में बाग एवं वाटिका प्रकल्पन श्री तथा समृद्धिदायक एवं पुण्यप्रद कृत्य है। इससे गायत्री-मन्त्र के पुरश्चरण, दान एवं यज्ञ का फल प्राप्त होता है–

> सदा सावित्री भविता सदा दानं प्रयच्छति।
> सदा यज्ञं स पूज्येत यो रोपयति पादपम्॥[१]

वृक्षों के पत्र, पुष्प, फल एवं मूल से सांसारिक प्राणी ही नहीं, पितृगण भी तृप्त होते हैं–

> पत्रैः पुष्पैः फलैर्मूलैः कुर्वन्ति पितृतर्पणम्।[२]

वाटिका का स्थान एवं आकार

सामान्यतया वाटिका की स्थिति गृह से पूर्व, उत्तर, पश्चिम या ईशान कोण में प्रशस्त होती है–

> वाटिका वा तडागो वा कूपो वा यदि निर्मितः।
> गृहात्पूर्वे कुबेर्याञ्च वारुणे शम्भुकोणके॥[३]

इसका वास्तुक्षेत्र पूर्व-पश्चिम अधिक या उत्तर-दक्षिण अधिक प्रशस्त माना गया है–

> शशिविद्धं गृहं कुर्याद् रविविद्धं जलाशयम्।
> हट्टा वा वाटिका वापि द्वयोर्विद्धं प्रशस्यते॥[४]

---

१. बृहद्वास्तुमाला प्रयोग, पृ० ११५ श्लोक, १५, १६
२. वही, पृ० ११५
३. वास्तुप्रबोध, पृ० ८२, श्लोक २८
४. वही, पृ० ८४, श्लोक ३६

वृक्षारोपण

उपवन में वृक्षारोपण में अन्तराल विचारणीय तथ्य है। एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष की दूरी २० हाथ उत्तम, १६ हाथ मध्यम एवं १२ हाथ सबसे कम होता है–

उत्तमं विंशतिर्हस्ता मध्यमं षोडशान्तरम्।
स्थानात् स्थानान्तरं कार्यं वृक्षाणां द्वादशावरम्॥[१]

अत्यन्त निकट लगे वृक्ष आगे चल कर एक-दूसरे को अपनी छाया से ढ़ँक देते हैं एवं नीचे उनकी जड़ें भी आपस में मिल जाती हैं। इससे वृक्ष अपना उचित आहार ग्रहण नहीं कर पाते। अतः उनके फल भी अच्छे नहीं होते–

अभ्यासजातास्तरवः संस्पृशन्तः परस्परम्।
मिश्रमूलैश्च न फलं सम्यग् यच्छन्ति पीडिताः।।[२]

उद्यान के प्रकार

वास्तुशास्त्र, रामायण, महाभारत तथा साहित्य-ग्रन्थों में प्राप्त वर्णनों के आधार पर उद्यान के विविध भेद किये जा सकते हैं–यथा नगर उद्यान, राज-भवन के उद्यान, देवालयों के उद्यान, राजपथ के उद्यान तथा गृह-वाटिका आदि।

नगर-उद्यान

रामायण एवं पुराणों में अनेक नगर-उद्यानों का वर्णन प्रसंगतः प्राप्त होता है। विविध उपवनों से युक्त द्वारका पुरी[३], नन्दन-वन से युक्त अमरावती[४], उद्यान एवं वापी से युक्त व्रज का रास-मण्डल[५], श्रीपुर का महा-उद्यान[६], नागकेसर से युक्त जमदग्नि पुरी[७], उद्यान युक्त वाराणसी[८],

---

१. वृ०वा०मा०, पृ० ८३, श्लोक ३२
२. बृहद्वास्तुमाला प्रयोग, पृ० १५६, श्लोक १३
३. भागवत पुराण, १०।५०।५२; विष्णु० ५।२३।१४;
४. विष्णु० ५।३०।३०-३२;
५. ब्रह्मवैवर्त०, कृष्ण जन्म०, १७।८-२१;
६. ब्रह्माण्ड०, ४।३१।५४-५५;
७. वही, ३।२७।१७;
८. मत्स्य० १८०।४४;

आम्रवन से युक्त अयोध्या[१] तथा वन, उपवन आदि से सुशोभित लंकापुरी[२] आदि उदाहरण उल्लेखनीय हैं। आधुनिक युग में भी नगरों में निर्मित उद्यान (पार्क) यथा प्रयाग में चन्द्रशेखर आजाद पार्क, खुसरुबाग इत्यादि उल्लेखनीय हैं।

राजभवन के उद्यान

नगर के उद्यान सार्वजनिक होते हैं किन्तु राज-भवन के उद्यान राजपरिवार एवं विशिष्ट अभ्यागतों के लिये होते हैं। यथा अयोध्या के राजभवन की 'अशोकवनिका[३]' तथा लङ्का में विश्वकर्मा द्वारा निर्मित 'अशोकवाटिका[४]' उल्लेखनीय हैं। इनका वर्णन वाल्मीकि रामायण में विस्तार से प्राप्त होता है। राज-गृह के उद्यानों का वास्तुशास्त्रीय विवेचन वास्तु-ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है। राजवल्लभ **मण्डन** में इसे 'क्रीडा वाटिका' कहा गया है। राज-भवन के वाम भाग या दक्षिण भाग में मनोरंजन हेतु वाटिका निर्मित करनी चाहिये। यह १०० दण्ड, २०० दण्ड या ३०० दण्ड माप की होती है। इसके मध्य भाग में जल-यन्त्रों से युक्त धारा मण्डप होता है–

> **वामे भागे दक्षिणे वा नृपाणां त्रेधा कार्या वाटिका क्रीडनार्थम्।**
> **एकद्वित्रिदण्डसंख्याशतं स्यान्मध्ये धारामण्डपं तोययन्त्रैः।।**[५]

धारा-मण्डप में जलयन्त्र की स्थापना होती है। इसका क्षेत्र-विभाजन ७ भागों में होता है। ३ भाग से भद्र एवं मध्य में जल की वापी, १ भाग से वेदिका, कोणों पर कूप एवं मध्यम भाग में १२ स्तम्भ निर्मित होते हैं। इसका निर्माण राजाओं के सुखोपभोग हेतु होता है–

> **क्षेत्रं सप्तविभागभाजितमतो भद्रं च भागत्रयं**
> **तन्मध्ये जलवापिका जिनपदैरेकांशतो वेदिका।**
> **स्तम्भैर्द्वादशभिश्च मध्यरचितः कोणेषु कूपान्वितः**
> **कर्तव्यो जलयन्त्र एष विधिवद् भोगाय पृथ्वीभुजाम्।।**[६]

---

१. वाल्मीकि रामायण, बाल० ५।१२; अयोध्या०, ८०।१२, १००।४३;
२. वही, सुन्दर०, २।९-१३;
३. वही, उत्तर, ४२।१-१५;
४. वही, सुन्दर०, १४।३४; १४।१-३५।
५. रा०ब० मण्डन ९।१८
६. राजवल्लभ०, ९।१९

धारा-मण्डप का अत्यन्त विशद वर्णन **समराङ्गणसूत्रधार** ग्रन्थ में प्राप्त होता है। राज-भवन की वाटिका में राजकुल की स्त्रियों के मनोरंजन हेतु घटी-यन्त्र, झूला तथा जलक्रीडा की व्यवस्था सहित ७ आस्थान-मण्डप की रचना की जाती है–

आस्थानं प्रतिसेचनाय च घटीयन्त्रः सुसारो भवेत्
दोला स्त्रीजनखेलनाय रुचिरे वर्षा वसन्तोत्सवे।
बालाप्रौढवधूसुमध्यवनितागानैर्मनोहारिभि-
र्ग्रीष्मे शारदके सुशीतलजले क्रीडा शुभे मण्डपे।।[१]

विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में उद्यान में 'वसन्त गृह' के निर्माण की चर्चा की गई है–

तस्मात् तत्कल्पयेत् पुर्यामुद्याने भवनान्तरे।[२]

राजोद्यान के वृक्ष

इस क्रीडा-वाटिका में चम्पा, कुंद, चमेली, लता, निर्वालिका, जाती, पीली केतकी, श्वेता, गुलाब, नारंग, कनेर, वसन्तलता, लाल पुष्प, जम्बीरी नीबू, बेर, सुपारी, महुआ, आम, बेल, केला, चन्दन, बरगद, पीपल, हर्रे, आँवला, इमली, अशोक, कदम्ब, नीम, खजूर, अनार, कपूर, अगरु, किंशुक, जायफल, नागबेल, नीबू, बिजौरा नीबू, तिन्दुकी, कलिहारी, अंगूर, इलायची, शतावरी, मौलसिरी, धतूरा, कंकोल, शाल, ताल, तमाल, अगस्तिया, मदार, पारिजात, चम्पक एवं अन्य सुखोपभोग के वृक्ष लगाने चाहिये।[३] राजभवन से सम्बद्ध उद्यानों की परम्परा आज भी दृष्टिगोचर होती है। इस सन्दर्भ में राष्ट्रपति-भवन का 'मुगल गार्डन' उल्लेखनीय है।

राजपथ के उद्यान

राज-पथ के निकट उद्यान का सामाजिक एवं धार्मिक महत्त्व है। राज-पथ के निकट कूप युक्त सुन्दर वाटिका का निर्माण कराने वाला पापरहित होकर स्वर्ग का अधिकारी होता है–

---

१. राजवल्लभ०, ९।२३
२. विश्वकर्मवास्तु शा० २४।२
३. राजवल्लभ मण्डन, ९।२०-२२

फलदा पुण्यदा चैव पापं संहरते ध्रुवम्।
यत्करोति घनच्छायः पादपः पथिरोपितः।।

न तत्करोत्यग्निहोत्रं न पुत्रा योषितोद्भवाः।
अतः सर्वगुणोपेतान् वृक्षानारोपयेत् सुधीः।।

यो वाटिकां राजपथः समीपे स्विष्टां तथा कूपसमन्विताश्च।
स्वर्गे च वासं लभते मनुष्यश्चतुर्युगं सर्वसुखैरुपेतः।।[१]

जलाशय की वाटिका

जलाशय की शोभा छाया के बिना नहीं होती, अतः जलाशय के समीप वाटिका लगानी चाहिये–

प्रान्तच्छाया विनिर्मुक्ता न मनोज्ञा जलाशयाः।
यस्मादतो जलप्रान्तेष्वारामान् विनिवेशयेत्।।[२]

देवालय एवं आराम

देवालय तथा आराम (उद्यान) का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। देवालय के परिसर में उपवन का निर्माण किया जाता है। मत्स्य पुराण के अनुसार प्रासाद के पूर्व भाग में फलदार वृक्ष, दक्षिण में क्षीर वाले वृक्ष, पश्चिम में कमल-पुष्प से युक्त जलाशय तथा उत्तर में सरल (चीड़) एवं ताल-वृक्ष तथा पुष्पवाटिका का निर्माण करना चाहिये–

पूर्वेण फलिनो वृक्षाः क्षीरवृक्षास्तु दक्षिणे।
पश्चिमेन जलं श्रेष्ठं पद्मोत्पलविभूषितम्।
उत्तरे सरलैस्तालैः शुभा स्यात् पुष्पवाटिका।।[३]

फल-पुष्पादि से सुशोभित, हंसादि पक्षियों तथा जलचरों की क्रीड़ा से युक्त, जलाशय एवं वाटिका से समन्वित स्थान पर देवों का वास होता है–

---

१. बृहद्वास्तुमाला प्रयोग, पृ० ११७-११८, श्लोक ३१-३३
२. बृहद्वास्तुमाला प्रयोग, पृ० १५३, श्लोक १
३. मत्स्यपुराण, २७०।२८-२९

रमन्ते देवता नित्यं पुरेषूद्यानवत्सु च।[1]

गृह-वाटिका

गृह-वाटिका गृह-निर्माण को पूर्णता प्रदान करता है। गृह के पूर्व भाग में वट वृक्ष, दक्षिण में उदुम्बर (गूलर), पश्चिम में पीपल तथा उत्तर में प्लक्ष (पाकड़) का वृक्ष शुभ होता है।[2] राजवल्लभ में उत्तर दिशा में प्लक्ष के स्थान पर कपित्थ वृक्ष कहा गया है–

सौम्यादेः शुभदौ कपित्थकवटावौदुम्बराश्वत्थकौ।[3]

इनके अतिरिक्त गृहवाटिका में अंगूर, पुष्प वाले पौधों के मण्डप, तिलक, पिप्पली तथा अनार के वृक्ष लगाने चाहिये।[4] पुन्नाग, फलिनी, प्रियङ्गु, नीम, अनार, अशोक, मालती, नागकेसर, जपा कुसुम, केसर जयन्ती, चन्दन, वचा, अपराजिता, मधु (महुआ), बेल, आम, दालचीनी, नागर, नारियल तथा कटहल के वृक्ष सभी दिशाओं में शुभ परिणाम देते हैं।[5]

गृहवाटिका में वृक्षारोपण की व्यवस्था दिशाओं, दिक्कोणों एवं उनके मध्य भाग में इस प्रकार प्राप्त होती है–

ईशाने रोपयेद्धात्रीं नैर्ऋत्ये चिञ्चिणीद्रुमान्।
आग्नेय्यां दाडिमं चैव वायव्ये बिल्ववृक्षकम्।।[6]

ईशान कोण में आँवला, नैर्ऋत्य कोण में इमली, अग्नि कोण में अनार तथा वायव्य कोण में बेल के वृक्ष लगाने चाहिये। इसी प्रकार उत्तर में पाकड़, पूर्व में बरगद, दक्षिण में गूलर, पश्चिम में पीपल तथा इनके बीच में अनेक जातियों के आम्र के वृक्ष लगाना चाहिये–

प्लक्षोत्तरे पूर्ववटं प्रशस्तं ह्युदुम्बरं दक्षिणभागके च।
अश्वत्थवृक्षं दिशि वारुणस्यां मध्ये तथाम्रान्विविधप्रकारान्।।[7]

---

१. बृहद्वास्तुमालाप्रयोग, पृ० १६१, श्लोक ८-१६२
२. मत्स्यपुराण, २५५।१९-२१, बृहत्संहिता, ५३।८५
३. रा०व०म० १।३०
४. राजवल्लभमण्डन, १।३०
५. वास्तुरत्नावली, पृ० ४१
६. बृहद् वास्तुमाला प्रयोग, पृ० ११६, श्लोक २३
७. बृहद्वास्तुमाला प्रयोग, पृ० ११७, श्लोक २४

मतान्तर से गृह-वाटिका इस प्रकार कही गई है। दक्षिण एवं नैर्ऋत्य कोण के बीच में जामुन, कदम्ब के वृक्ष, ईशान कोण एवं पूर्व के बीच में कटहल तथा आम के वृक्ष लगाने चाहिये। वाटिका के बाहर पूर्व दिशा में बाँस, उत्तर में शमी, पश्चिम में कत्था तथा दक्षिण में बकुल (मौलसिरी) के वृक्ष प्रशस्त होते हैं—

याम्यनैर्ऋत्ययोर्मध्ये तथा जम्बुकदम्बकौ।
पनसश्च तथाम्रश्च प्रशस्तौ शम्भूपूर्वयोः।।

वाटिकायाः बहिः पूर्वे रोपयेद् वंशवृक्षकम्।
उत्तरे च शमी बाह्ये पश्चिमे खदिरो बहिः।।

दक्षिणे बकुलो बाह्येऽरिष्टनाशाय केवलम्।[१]

उद्यान के क्रम का उल्लेख करते हुये कहा गया है कि प्रथम उद्यान आम का, दूसरा पीपल का, तीसरा बरगद का, चौथा पाकड़ का, पाँचवाँ नीम का, छठाँ जामुन का एवं सातवाँ इमली का होता है। इनमें आम का उद्यान सर्वश्रेष्ठ होता है—

आम्राणां वाटिका चैव द्वितीयाश्वत्थवाटिका।।

तृतीया वटवृक्षाणां चतुर्थी प्लक्षवाटिका।
पञ्चमी निम्बवृक्षाणां षष्ठी जम्बुकवाटिका।।

चिञ्चिणीवृक्षसम्भूता सप्तमी परिकीर्तिता।
एतासां वाटिकानाञ्च प्रशस्ता चाम्रवाटिका।।[२]

द्रविड-परम्परा के ग्रन्थ **मनुष्यालयचन्द्रिका** के अनुसार गृह के पूर्वादि दिशाओं में वृक्षारोपण का क्रम इस प्रकार होना चाहिये—पूर्व में मौलसिरी एवं वट वृक्ष, दक्षिण में गूलर एवं इमली, पश्चिम में पीपल एवं सप्तपर्ण तथा उत्तर दिशा में नागकेसर एवं प्लक्ष (पाकड़) के वृक्ष शुभ होते हैं। इनके अतिरिक्त पूर्वादि दिशाओं में क्रमशः कटहल, सुपारी, नारियल एवं आम के वृक्ष विशेष रूप से लगाने चाहिये—

---

१. बृहद् वास्तुमालाप्रयोग, पृ० ११७, श्लोक २५-२७
२. बृहद् वास्तुमाला प्रयोग, पृ० ११७, श्लोक २७-२९

पूर्वस्यां बकुलो वटश्च शुभदोऽवाच्यां तथोदुम्बर-
शिचञ्चा चाम्बुपतौ तु पिप्पलतरुः सप्तच्छदोऽपि स्मृतः।
कौबेर्यां दिशि नागसंज्ञिततरुः प्लक्षश्च संशोभनाः
प्राच्यादौ तु विशेषतः पनसपूगौ केरचूतौ क्रमात्।।[१]

भवन के बगल एवं पीछे श्रीवृक्ष, बेल एवं हर्रे का वृक्ष रोगों को नष्ट करता है–

स्थाप्या मन्दिरपार्श्वपृष्ठदिशि तु श्रीवृक्षबिल्वाभया।[२]

गृह–वाटिका में वृक्षों को लगाने के क्रम के विषय में **मनुष्यालयचन्द्रिका** के अनुसार वृक्षारोपण के समय गृह की ओर से प्रथम पंक्ति में अन्तःसार वृक्ष, पुनः सर्वसार वृक्ष, तीसरी पंक्ति में बहिः सार वृक्ष एवं इनके पश्चात् निःसार वृक्षों को रखना चाहिये। अन्तःसार वृक्ष कटहल आदि, सर्वसार सागौन एवं इमली, बहिः सार तालकेर (नारियल), क्रमुक (सुपारी) एवं यवफल तथा निःसार साहिजन, सप्तच्छद, शुक (शिरीष), किंशुक (सेमल, ढाक) आदि हैं–

अन्तःसारास्तु वृक्षाः पनसतरुमुखाः सर्वक्षाराश्च शाका-
शिचञ्चाद्यास्तालकेरक्रमुकयवफलाद्या बहिस्सारवृक्षाः।
निःसाराः शिग्रुसप्तच्छदशुकतरवः किंशुकाद्याश्च कार्या-
स्तेष्वाद्या मध्यभागेऽपि बहिरपि च ततः सर्वसारास्ततोऽन्ये।।[३]

इसी परम्परा में **वास्तुविद्या** ग्रन्थ का मत भी द्रष्टव्य है–

वृक्षा निस्सारा ये तेषां क्षेत्रेषु वर्तनं नेष्टम्।
जातीनागलताद्या लतिका रम्भाश्च सर्वत्र शस्ता।।[४]

दिशाओं के अनुसार पूर्व में कटहल एवं केसर, दक्षिण में सुपारी एवं इमली, पश्चिम में केर एवं ताल तथा उत्तर में भूत (बहेड़ा) तथा नाग लता आदि प्रशस्त होते हैं। इनमें भी वृक्षारोपण का क्रम अन्तःसार, बहिः सार, उभयतः सार एवं उभयतः निस्सार होता है–

---

१. मनुष्यालयचन्द्रिका, १।२२
२. मनुष्यालयचन्द्रिका, १।२४
३. मनुष्यालयचन्द्रिका, १।२५
४. वास्तुविद्या, ५।१८

पनसः प्राच्यां श्रेष्ठः क्रमुको याम्येऽथ पश्चिमे केरः।
सोमे भूतो धन्यो नागस्तत्रैव केसरः प्राच्याम्।।

तिन्त्रिण्युदिता याम्ये छत्री श्रेष्ठोऽथ पश्चिमे कथितः।
अन्तःसारा वृक्षा यदि सन्ति ह्यन्तरेव सन्तु च ते।।

ये सन्ति त्वयिसारास्तेऽपि च सन्त्वेव सर्वतो बाह्ये।
सकलःसारो येषां ते वृक्षाः सर्वदिक्षु प्रयोज्या।।[१]

गृह-वाटिका में त्याज्य वृक्ष

गृह के अत्यन्त निकट दूध वाले वृक्ष, काँटेदार वृक्ष, फलदार वृक्ष एवं सोने के समान वर्ण वाले पुष्पों को नहीं लगाना चाहिये–

सुदुग्धवृक्षा द्रविणस्य नाशं कुर्वन्ति ते कण्टकिनोऽरिभीतिम्।
प्रजाविनाशं फलिनः समीपे गृहस्य वर्ज्याः कलधौतपुष्पाः।।[२]

बृहत्संहिता में भी इस मत की पुष्टि की गई है। दिशाओं के अनुसार वर्जित वृक्ष इस प्रकार हैं–दक्षिण में पाकड़, पश्चिम में वट, उत्तर में उदुम्बर एवं पूर्व में पीपल–

याम्यादिष्वशुभफला जातास्तरवः प्रदक्षिणेनैते।[३]

इसी प्रकार अग्निकोण में क्षीरी वृक्ष, वट, पीपल, लाल पुष्प, काँटेदार वृक्ष, सेमल, पाकड़ एवं गूलर वर्जित हैं–

क्षीरवृक्षा वटाश्वत्थरक्तपुष्पद्रुमास्तथा।
सकण्टका शाल्मली च प्लक्षोदुम्बरसंज्ञकौ।।
अग्निकोणे सदा दुष्टा मृत्युपीडा प्रदायकाः।[४]

---

१. वास्तुविद्या, ५।१६, १७
२. राजवल्लभ मंडन, १।२९
३. बृहत्संहिता, ५३।८५
४. वास्तुरत्नावली, पृ० ४१

मनुष्यालयचन्द्रिका के अनुसार गृह के समीप वर्जित वृक्ष कारस्कर (कुचला), अरुष्कर (अडूसा), काँटेदार वृक्ष, श्लेष्मातक (लिसोढ़ा), रुद्राक्ष, पीलु, नीम, स्नुही, पिशाच (सिहोर) हेमदुग्धं ही सहिजन हैं। सहिजन को घर की चारदिवारी के भीतर नहीं लगाना चाहिये–

कारस्करारुष्करकण्टकिद्रुश्लेष्मातकाक्षद्रुमपीलुनिम्बाः।
स्नुहीपिशाचद्रुमहेमदुग्धाः सर्वत्र नेष्टा अपि शिग्रुरन्तः।।[१]

इनके अतिरिक्त विपरीत दिशा में लगे वृक्ष चाहे वे सोने के ही क्यों न हो उन्हें तथा भवन की ऊँचाई की सीमा से कम दूरी पर लगे वृक्षों को काट देना चाहिये–

सम्प्रोक्त प्रतिदिक्स्थितास्त्वपि च ते चान्ये सुवर्णात्मका-
श्छेद्या मन्दिरतस्तरुच्चयुगसीमाभ्यन्तरस्था यदि।[२]

विवादास्पद वृक्ष

उपर्युक्त वृक्षों में अश्वगन्ध, कन्द, केला एवं नीबू के विषय में यह भी कहा गया है कि ये वृक्ष जिस गृह में उगते हैं वह गृहस्वामी वृद्धि को नहीं प्राप्त होता है–

अश्वगन्धश्च कन्दश्च कदली बीजपूरकः।
गृहे यस्य प्ररोहन्ति स गृही न प्ररोहितः।।[३]

इसी प्रकार मालती, मल्लिका (जूही), मोच (केला, सेमर), इमली तथा श्वेत अपराजिता जिसके घर में हो उसे शस्त्र-घात का भय होता है–

मालतीं मल्लिकां मोचं चिञ्चां श्वेतापराजिताम्।
वास्तून्यारोपयेद्यस्तु शस्त्रेण स निहन्यते।।[४]

गृह पर वृक्ष-छाया का निषेध तथा गृह के वृक्षों की दूरी

गृह से वृक्षों को इतनी दूर रोपित करना चाहिये जिससे दिन के दूसरे एवं तीसरे प्रहर गृह पर उनकी छाया न पड़े–

---

१. मनुष्यालयचन्द्रिका, १।२६
२. मनुष्यालयचन्द्रिका, १।२३
३. वास्तुसौख्य, श्लोक ४२
४. वास्तुसौख्यम्, ४४

प्रथमान्तयामवर्ज्जं द्वित्रिप्रहरसम्भवा:।
छायावृक्षद्वयादीनां सदा दु:खप्रदायिनी।।[१]

राजवल्लभमण्डन के अनुसार दिन का एक प्रहर बीत जाने के पश्चात् किसी वृक्ष या देवालय की छाया नहीं पड़नी चाहिये–

यामादूर्ध्वमशेषवृक्षसुरजा छाया न शस्ता गृहे।[२]

वृक्षों से भवन की दूरी भवन की ऊँचाई की सीमा से अधिक होनी चाहिये। इससे कम सीमा पर लगे वृक्षों को काट देना चाहिये–

छेद्या मन्दिरतस्तरुच्चयुगसीमाभ्यन्तरस्था यदि।[३]

आँगन में वृक्षारोपण का निषेध

गृह के मध्य में वृक्ष, चाहे सोने के ही क्यों न हों, नहीं लगाना चाहिये–

अपि हेममयान् वृक्षान् वास्तुमध्ये न रोपयेत्।[४]

आँगन में केवल तुलसी का बिरवा ही प्रशस्त होता है–

रोपयेत् तुलसीवृक्षं सुखदं ह्यजिरे बुध:।[५]

वृक्ष-छेदन का निषेध

सामान्यतया वास्तु-ग्रन्थों में वृक्ष काटने का निषेध किया गया है। **राजवल्लभमण्डन** के अनुसार भूतों के निवास के कारण दोषपूर्ण भी वृक्षों को, बेल, शमी, अशोक, मौलसिरी, नागकेसर एवं चम्पा को नहीं काटना चाहिये–

दुष्टी भूतसमाश्रितोऽपि विटपी नो छिद्यते शक्तित।
स्तद् बिल्वीं च शमीमशोकबकुलौ पुन्नागसचम्पकौ।[६]

१. वही, ३६९
२. राजवल्लभमण्डन, १।२८
३. मनुष्यालयचन्द्रिका, १।२३
४. वास्तुसौख्य, ४०
५. गृहरत्नविभूषण, पृ० ९४, श्लोक १३९
६. राजवल्लभमण्डन, १।३०

बल्कि इनके साथ अन्य शुभ वृक्षों का रोपण कर देना चाहिये जिससे इनके अशुभ प्रभाव क्षीण हो सकें–

छिन्द्याद्यदि न तरूँस्तान् तदन्तरे पूजितान् वपेदन्यान्।[१]

निष्कर्ष

वास्तु-वाङ्मय के विहगावलोकन से निष्कर्ष इस प्रकार प्राप्त होता है–

१. उद्यान एवं वाटिका का निर्माण एक सामाजिक एवं धार्मिक पुण्य कार्य है।

२. अन्य वास्तु-प्रकल्पनों की भाँति इसके भी स्थान, आकार, दिशादि पर ग्रन्थों में विचार किया गया है।

३. उद्यान सामाजिक एवं व्यक्तिगत दोनों प्रकार के होते हैं। इनमें स्थान, अवसर एवं आवश्यकता के अनुरूप आमोद-प्रमोद, विश्राम-स्थल, कूप एवं जलाशय आदि निर्मित किये जाते हैं।

४. गृह के अत्यन्त निकट बड़े वृक्षों का रोपण वर्जित रहा है। अधिक निकट वृक्षारोपण न करना तर्कसंगत है क्योंकि वृक्षों के बड़े होने पर उनकी जड़ें बढ़कर भवन की नींव को क्षतिग्रस्त करती हैं, साथ ही पेड़ पर चढ़े चोर आदि से भवन की सुरक्षा भी बाधित होती है।

५. भीतर से दृढ़ वृक्ष ही गृह निकट होना चाहिये जिससे वे वायु के वेग से या किसी के चढ़ने से टूर कर भवन के ऊपर न गिरें।

६. गृह के आँगन में भी वृक्षारोपण वर्जित है। इससे गृह के नींव आदि अंग क्षीण होते हैं, साथ ही भवन में शुद्ध वायु एवं प्रकाश का प्रवेश बाधित होता है। रात्रि में वृक्षों से उत्सर्जित वायु (कार्बन-डाई-आक्साइड) प्राणियों के स्वास्थ्य को प्रभावित करता है।

७. आँगन में रोपण के सन्दर्भ एकमात्र तुलसी का वृक्ष प्रशस्त कहा गया है क्योंकि इससे उत्सर्जित वायु गृह के वातावरण को शुद्ध एवं स्वास्थ्यकर निर्मित करता है।

---

१. बृहत्संहिता, ५३।८७

८. दो वृक्षों के रोपण में मध्य के अन्तर का परिगणन वृक्षों के विकास की दृष्टि से अत्यन्त वैज्ञानिक है। आज भी वृक्षों के समुचित विकास के लिये उनके मध्य पर्याप्त अन्तर समीचीन माना जाता है।

९. भवन पर वृक्षों की छाया अप्रशस्त कही गई है। भवन की सुरक्षा के अतिरिक्त वायु एवं सूर्य के प्रकाश का विधिवत् संचार इससे बाधित होता है। इसके कारण गृह में रहने वाले मनुष्यों का शारीरिक स्वास्थ्य बाधित है। साथ ही, इससे भवन में नकारात्मक ऊर्जा का संचार होता है। फलस्वरूप, गृह-निवासियों का मन-मस्तिष्क सदैव उद्वेलित रहता है जिसका सीधा प्रभाव उनके शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य, कार्य-क्षमता एवं प्रगति पर पड़ता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय वास्तुशास्त्र में बाग एवं वाटिका के निर्माण के सिद्धान्त अत्यन्त तर्कसंगत एवं समीचीन हैं। सभी सिद्धान्त आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं जितने प्राचीन काल में थे। प्राचीन भारतीय मनीषियों का चिन्तन अत्यन्त वैज्ञानिक सुसंगत एवं कालजयी है।

गृहसज्जा और वास्तुशास्त्र

अशोक थपलियाल

वास्तु का तात्पर्य निवास स्थान से है। मनुष्य एवं उसके आश्रित प्राणियों के निवास या कार्य करने योग्य भूमि तथा भवन के समुचित चयन एवं निर्माण की प्रक्रिया को वास्तुशास्त्र प्रतिपादित करता है जिससे मानव 'वास्तु' से अधिकतम सुविधाओं का उपभोग कर सके। इसके लिए पृथ्वी के वातावरण, जो पञ्चमहाभूतों एवं प्राकृतिक शक्तियों द्वारा नियन्त्रित हैं, का सूक्ष्म अध्ययन आवश्यक है। अतः वास्तुशास्त्र प्राकृतिक तत्त्वों एवं नियमों का गहनतापूर्वक सूक्ष्म निरीक्षण कर उनके समुचित प्रबन्धन द्वारा मानव जीवन में सुख, समृद्धि एवं सौभाग्य के अभिवर्द्धन हेतु प्रयास करता है। 'वास्तु' की शुभाशुभ परीक्षा अवश्य करनी चाहिए क्योंकि शुभ वास्तु में निवासकर्त्ता को सुख, शान्ति, समृद्धि, उत्साह, सौभाग्यादि अनुकूल फल की प्राप्ति होती है जबकि अशुभ वास्तु में प्रतिकूल फल मिलता है।

वास्तुशास्त्र के नियमानुसार भवनादि का निर्माण कर लिए जाने पर 'गृह सज्जा' का कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जब गृहसज्जा चित्ताकर्षक एवं निवासकर्त्ता के अनुकूल समुचित प्रकार से की जाती है तभी वास्तु का निर्माण सफल माना जाता है। अन्यथा वास्तु में निवास करने पर मानसिक तनाव, उलझनें, असन्तोष, थकावट इत्यादि दोष उभर कर सामने आते हैं। साथ ही अव्यवस्थित सज्जा अभ्यागतों पर भी कुप्रभाव डालती है। गृहसज्जा से तात्पर्य मात्र भौतिक सुन्दरता से ही नहीं है अपितु प्राकृतिक तत्त्वों एवं शक्तियों के सन्तुलन एवं समुचित प्रबन्धन तथा आध्यात्मिक उन्नति से युक्त भौतिक सुविधाओं की व्यवस्था करना भी है। जिससे निवासकर्त्ता सुखपूर्वक रह सके। सम्प्रति गृहसज्जा हेतु प्रायः सज्जाकार (डेकोरेटर्स) की सेवाएं ली जाती हैं जो सामान्यतया निवासकर्त्ता की रुचि एवं भौतिक आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए गृहसज्जा सुनिश्चित करता है। किन्तु प्रायः गृहसज्जा में वास्तुशास्त्र की अनदेखी कर दी जाती है। कुछ विद्वानों की दृष्टि में वास्तुशास्त्र का कार्य गृहनिर्माण तक ही सीमित है और इसका गृहसज्जा से कोई लेना देना नहीं है। परन्तु यह दृष्टिकोण समुचित नहीं है। प्रस्तुत लेख में वास्तुशास्त्र की दृष्टि से 'गृहसज्जा' विषयक कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दु दिये जा रहे हैं।

गृहसज्जा को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। पहला बाह्य गृहसज्जा, जिसके अन्तर्गत घर के बाहर की सजावट के विषय में चर्चा की जा सकती है तथा दूसरा अन्तः गृहसज्जा, जिसमें घर के भीतर की सजावट निश्चित की जाती है।

१. बाह्य गृहसज्जा

भवन के बाहर के वातावरण को स्वच्छ, शुद्ध एवं रमणीय बनाने हेतु प्राचीन काल से ही वाटिका जलमण्डपादि रचनाओं का प्रामुख्य रहा है। यथा वास्तुराजवल्लभ[१]–

> वामे भागे दक्षिणे वा नृपाणां त्रेधा कार्या वाटिका क्रीडनार्थम्।
> एकद्वित्रिदण्डसंख्याशतं स्यान्मध्ये धारामण्डपं तोययन्त्रैः।।

भवन में या भवन के समीप दुग्धरसीय वृक्ष (आक, कटैली इत्यादि) कांटेदार वृक्ष (बबूल, खैर इत्यादि) फलदार वृक्ष (आम, अमरूद इत्यादि) रोपित करना शुभ नहीं है किन्तु गृह से कुछ दूरी पर नीम, अनार, अशोक, पुन्नाग, रीठा, वकुल, चम्पा, गुलाब, केला, जाती, केवडा इत्यादि वृक्ष शुभ होते हैं।[२] घर के आंगन में पूर्व, उत्तर या ईशान (पूर्वोत्तर) दिशा में तुलसी रोपण मांगल्यप्रद होता है। उत्तर दिशा में पाकर व कैथ, पूर्व में बरगद, दक्षिण में गूलर, गुलाब और पश्चिम में पीपल शुभ हैं तथा ठीक उसके विपरीत दिशा में अशुभ होते हैं।[३] ईशान में आंवला, नैऋत्य में इमली, आग्नेय में अनार एवं वायव्य में विल्व वृक्ष शुभ कहे गये हैं।[४] इस प्रकार अन्य शुभाशुभ वृक्षों का विचार कर गृह समीप वृक्षारोपण करना चाहिए किन्तु द्वारवेध का ध्यान रखते हुए द्वार के ठीक आगे वृक्षारोपण नहीं करना चाहिए।

२. अन्तः गृहसज्जा

(क) द्वारसज्जा

समराङ्गणसूत्रधार[५] के अनुसार भवन के दरवाजे के दोनों ओर वेंतछड़ व म्यानयुक्त तलवार धारण किए हुए अलंकृत दो प्रतिहारों या प्रतिहारियों का निवेशन करना चाहिए। सम्प्रति प्रतिहारों की

---

१. वा०रा०व० - ९/१८
२. द्र० वा०रा०व० - १/२८, वृ०सं० ५३/८४-८५
३. द्र० वृ० वास्तुमा० मिश्र ११, वृ०सं० ५२/८३
४. वृ०वा०मा० श्लोक २५-२६ पृ० २१६
५. स०सू० ३४/३०-३१

प्रतिकृतियां बड़े-बड़े भवनों में परिलक्षित होती हैं। इसी प्रकार द्वार में अष्टमंगला गौरी तथा द्वारमण्डप के मध्य में लक्ष्मी का निवेशन मांगल्यप्रद कहा गया है।[१] द्वार पर सुन्दर आकृतियों, वेंतलता इत्यादि का चित्रण किया जा सकता है। द्वार का वर्ण गृहवर्ण के अनुकूल नयनाभिराम होना चाहिए किन्तु सम्पूर्ण द्वार पर केवल सफेद, काला या लाल रंग प्रयुक्त नहीं करना चाहिए। दरवाजे पर दो या दो से अधिक रंग भी प्रयुक्त किए जा सकते है। इसी प्रकार गवाक्ष एवं पर्दा आदि का विन्यास करना चाहिए। नागदन्त, तुला, स्तम्भ, भित्ति, गवाक्ष इत्यादि को न तो द्वार के मध्य भाग में देना चाहिए और न इनको विषम में स्थित करना चाहिए।[२]

(ख) विद्युत व्यवस्था

वास्तुराजवल्लभ[३] में दीप संस्थान के विषय में कहा गया है कि–दीपक रखने का स्थान हमेशा भवन के दक्षिण भाग में बनाना चाहिए जिसके बाएं भाग में अर्गला लगी हो। मध्य या बाएं भाग में दीपक का स्थान बनाना शुभ नहीं है। अतः प्रकाश हेतु बल्व, ट्यूबलाइट इत्यादि दक्षिण की ओर शुभ है। आवश्यकतानुरूप इनको आग्नेय में भी स्थापित किया जा सकता है।

विद्युत उपकरणों एवं अग्नि सम्बन्धित उपकरणों की स्थापना आग्नेय दिशा में शुभ कही गयी है। अतः टेलिविजन, हीटर, हीटकन्वेक्टर, गैस चूल्हा, ओवन, दीपक, यज्ञवेदी इत्यादि को कक्ष के आग्नेय दिशा में स्थापित करना चाहिए। अत्यावश्यक होने पर पूर्व या दक्षिण दिशा भी प्रयुक्त की जा सकती है। कूलर, एयर कंडीशनर जैसे उपकरण पश्चिम और उत्तर में लगाये जाने चाहिए। फ्रिज को कक्ष के पश्चिम में रखना चाहिए। इस प्रकार अन्यान्य उपकरणों का स्थापन उनकी प्रकृति के अनुरूप दिशा में करना चाहिए।[४]

(ग) जल व्यवस्था

पाकगृह (रसोई घर) में जलव्यवस्था वाशवेशिन इत्यादि ईशान कोण में बनाना चाहिए। पूजन गृह में भी जलपात्र ईशान कोण में स्थापित करना शुभ है। स्नानगृह में नल, शॉवर इत्यादि पूर्व दिशा में तथा शौचालय में जलव्यवस्था पूर्व, पश्चिम या ईशान में करना चाहिए। जलनिकासी पूर्व, उत्तर

---

१. स०सू० ३४/३३-३९
२. तत्रैव ३४/७०
३. वा०रा०व० ५/२१ उद्धृत वा०र० ६/२९
४. द्र०भा० वास्तुशा० पृ० १२०-१२५

या वायव्य की ओर करना उत्तम है। स्नानगृह में उत्तर या दक्षिण में वेशिन लगाया जाना चाहिए।[१]

(घ) आसन्दिकादि व्यवस्था

कक्षों में अलमारी, सोफा, पलंग, कुर्सी या स्थायी रूप से रखे जाने वाले भारी सामान दक्षिण नैऋत्य या पश्चिम नैऋत्य में रखना चाहिए।[२] ईशान दिशा में भारी सामान रखना सर्वथा वर्जनीय है। यह दिशा रिक्त अथवा प्राकृतिक दृश्यों की पेन्टिंग या दीवार घड़ी या प्रतिमाओं से सज्जित की जा सकती है। अध्ययन कक्ष में कुर्सी एवं मेज पूर्व या उत्तराभिमुख होनी चाहिए। भोजन कक्ष में प्रमुख व्यक्तियों का आसन (कुर्सी इत्यादि) पूर्वाभिमुख तथा अन्य के लिए उत्तर व पश्चिमाभिमुख होना चाहिए। किन्तु दक्षिणाभिमुख सर्वथा वर्जनीय है। भोजन के लिए डायनिंग टेबिल आयताकार या वर्गाकार शुभ है। गोलाकार या अण्डाकार टेबिल ठीक नहीं है।[३]

शयनकक्ष में ड्रेसिंग टेबिल पूर्व में तथा अध्ययनार्थ टेबिल पश्चिम में लगानी चाहिए। तदनुसार बैठने की आसन्दिका (कुर्सी) स्थापित करनी चाहिए। वस्त्रों की आलमारी नैर्ऋत्य या वायव्य में स्थापित होनी चाहिए। नगदी-आभूषणादि बहुमूल्य वस्तुएं रखने के लिए तिजोरी शयनकक्ष में पश्चिमी या दक्षिणी दीवार में रखनी चाहिए। इसका द्वार उत्तर या पूर्व की ओर खुलना शुभ होता है। शयनकक्ष में पलंग को दक्षिण-नैर्ऋत्य या पश्चिम नैर्ऋत्य में इस प्रकार स्थापित किया जाना चाहिए कि पैर आग्नेय और नैर्ऋत्य में न फैले। सामान्यतया पलंग का सिरहाना पूर्व या दक्षिण की ओर रखना शुभ है। उत्तर में सिरहाना सर्वथा वर्जनीय है। पलंग के ऊपर छत की बीम या मोटी पट्टी नहीं होनी चाहिए।[४]

रसोईघर में खाद्य वस्तुएं रखने की आलमारी पश्चिम या दक्षिण में रखनी चाहिए। पश्चिमोत्तर दिशा में मिक्सी, टोस्टर, आटा चक्की एवं अन्य उपकरण रखे जा सकते हैं।[५] पूजनगृह में पूजन सामान की आलमारी पश्चिम या दक्षिण की ओर रखनी चाहिए।[६]

इस प्रकार कक्षों में वस्तुओं की प्रकृति के अनुसार उनका स्थापन करना चाहिए। कक्ष सज्जा करते समय निम्न बातों का भी ध्यान रखना चाहिए।

---

१. द्र०भा० वास्तुशा० पृ० १२०-१२५
२. तत्रैव पृ० १७१
३. तत्रैव पृ० १२४
४. तत्रैव पृ० १२२
५. तत्रैव पृ० १२०
६. तत्रैव पृ० ११९

१. भवन के मुखिया का शयनकक्ष दक्षिण में तथा युवा दम्पत्ति का शयनकक्ष वायव्य एवं उत्तर के बीच में बनाना समुचित है। बच्चों का कक्ष वायव्य कोण में बनाया जा सकता है किन्तु पूर्व, ईशान या आग्नेय में शयनकक्ष सर्वथा वर्जनीय है।[१]

२. शयनकक्ष में देवप्रतिमा अथवा पूजन स्थान नहीं बनाना चाहिए।[२] वहाँ शुभ पशु-पक्षी, प्राकृतिक दृश्य, कुमार-कुमारियों अथवा क्रीडा के दृश्य लगाये जा सकते हैं।

३. स्नानगृह में वस्त्रपरिवर्तन हेतु स्थान पश्चिम में बनाना चाहिए। शौचालय में शौचासन उत्तर या दक्षिण में लगाना चाहिए किन्तु शौच करते समय व्यक्ति पूर्वाभिमुख नहीं होना चाहिए।[३]

४. गृह सज्जा में चित्रों या प्रतिमाओं का प्रयोग करते समय ध्यान देना चाहिए कि-रामायण, महाभारतादि युद्धों के चित्र, तलवार युद्ध चित्र, इन्द्रजालिक चित्र, पत्थर व काष्ठादि की बनी हुई राक्षसादिकों की भयंकर मूर्ति, रोते हुए मनुष्यादिकों का चित्रादि लगाना शुभ नहीं होता है।[४]

५. रौद्र, दीन, अद्‌भुत, त्रास, वीभत्स और करुण रस चित्रादिकों में प्रयुक्त नहीं करने चाहिए। हास्य एव श्रृंगार को छोड़कर प्राणियों में अन्य रस का प्रयोग वर्जित है।[५]

६. अग्निदग्ध भवनादि, शुष्क, रुक्ष, भग्न, कटु एवं कांटेदार वृक्ष, गीध, उल्लू, कबूतर, बाज, कौवा, हाथी, घोड़ा, भैंसा, ऊँट, बिल्ली, गधा, बन्दर, सिंह, व्याघ्र, लकड़वग्घा, सुअर, हिरण, सियार एवं मांसभक्षी पशुपक्षी, ये सब अप्रयोज्य हैं।[६]

७. कक्ष में फल-पुष्पादि के चिह्नों से अलंकृत एवं सुन्दर समयोचित विशेष पक्षियों से युक्त ऋतुओं का आलेख्य, बेंत व केतकी से सज्जित, मछलियों से शोभित नलिनी वनों से सच्छन्न वापियों का आलेखन, पिंजरस्थ चकोर, तोते, सारिका, कोकिल, मोर इत्यादि व चित्र-विचित्र पत्रलताओं का आलेखन तथा सुन्दर कुमार-कुमारियों का चित्रण ये सभी प्रयोज्य हैं।[७]

---

१. भार० वा० पृ० १२१
२. तत्रैव पृ० १२२
३. तत्रैव पृ० १२५
४. वृ०दै०र० ८६/४१८
५. समराङ्गण सू० अध्याय ३४, उद्‌धृतं वास्तुसार पृ० १८६
६. तत्रैव
७. स०सू० अध्याय ३४ उद्‌धृत वास्तुसार पृ० १९०

इसी प्रकार कार्यालयादिकों में भी सज्जा की जानी चाहिए। किन्तु वहाँ कार्यरत अधिकारियों, कर्मचारियों के पद, कार्यक्षमता आदि का ध्यान रखते हुए उनका स्थानादि निवेश करना चाहिए। आगन्तुकों के लिए भी विशेष सज्जा करनी चाहिए। इस प्रकार गृह सज्जा करते समय वास्तु सम्बन्धी नियमों का अवश्य ही पालन करना चाहिए। इससे भवन का उपयोग करने वाले प्राणियों को पूरी-पूरी सुविधाएं उपलब्ध होती हैं। सुन्दर व आकर्षक सज्जा प्राणियों के शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य के लिए अत्यावश्यक है। इससे कार्यक्षमता का भी विकास होता है।

पर्यावरण एवं वास्तु

जी.बी. बरार

हमारी संस्कृति बहुत विलक्षण है। इसके सभी सिद्धान्त पूर्णतः वैज्ञानिक हैं और उनका एकमात्र उद्देश्य मनुष्य मात्र का कल्याण करना है। मनुष्य मात्र का सुगमता से एवं शीघ्रता से कल्याण कैसे हो—इसका जितना गम्भीर विचार हमारी संस्कृति में किया गया है, उतना अन्यत्र नहीं मिलता। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त मनुष्य जिन-जिन वस्तुओं एवं व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है और जो-जो क्रियाएँ करता है, उन सबको हमारे क्रान्तदर्शी ऋषि मुनियों ने बड़े वैज्ञानिक ढंग से सुनियोजित, मर्यादित एवं सुसंस्कृत किया है और उन सबका पर्यवसान परम श्रेय की प्राप्ति में किया है। इतना ही नहीं, मनुष्य अपने निवास के लिए भवन निर्माण करता है तो उसको भी वास्तुशास्त्र के द्वारा मर्यादित करता है। वास्तुशास्त्र का उद्देश्य भी मनुष्य को कल्याण-मार्ग में लगाना है। शास्त्र की मर्यादा के अनुसार चलने से अन्तःकरण शुद्ध होता है और शुद्ध अन्तःकरण में ही कल्याण की इच्छा जाग्रत होती है। वास्तु शब्द का अर्थ है—निवास करना (वस निवासे) जिस भूमि पर मनुष्य निवास करते हैं उसे वास्तु कहा गया है कुछ वर्षों से लोगों का ध्यान वास्तु विद्या की ओर गया है। प्राचीन काल में विद्यार्थी गुरुकुल में रहकर चौंसठ कलाओं (विद्याओं) की शिक्षा प्राप्त करते थे, जिनमें वास्तुविद्या भी सम्मिलित थी।

वास्तुविद्या के अनुसार मकान बनाने से कुवास्तुजनित कष्ट तो दूर हो जाते हैं पर प्रारब्धजनित कष्ट तो भोगने ही पड़ते हैं। जैसे औषध लेने से कुपथ्यजन्य रोग तो मिट जाता है पर प्रारब्धजन्यरोग नहीं मिटता। वह तो प्रारब्ध का भोग पूरा होने पर ही मिटता है। परन्तु इस बात का ज्ञान होना कठिन है कि कौन-सा रोग कुपथ्यजन्य है और कौन-सा प्रारब्धजन्य? इसलिए हमारा कर्तव्य है कि रोग होने पर हम उसकी चिकित्सा करें। इसी तरह कुवास्तुजनित दोष को दूर करना भी हमारा कर्तव्य है।

आज के प्रदूषित वातावरण में पर्यावरण की महती आवश्यकता से कौन इन्कार कर सकता है। पर्यावरण की शुद्धता, शुद्ध वायु, शुद्ध जल, शुद्ध प्रकाश, शुद्ध आकाश एवं शुद्ध भूमि पर निर्भर है। वास्तु भी वायु, जल, अग्नि, आकाश एवं पृथ्वी इन पाँचों तत्वों के अनुपातिक सन्तुलन का नाम है। अतः वास्तु एवं पर्यावरण का गहरा सम्बन्ध है। इनको एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता क्योंकि यदि इन पाँचतत्वों पर आधारित वास्तु सही है तो पर्यावरण भी सही होगा। यदि वास्तु गलत है तो पर्यावरण भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहेगा।

वास्तु का उद्देश्य

भवन प्राकृतिक संसाधनों के अनुकूल, स्थापत्य एवं वास्तु-सूत्रों से आबद्ध हो ताकि उसमें रहने वाला प्राणी पूर्णरूप से स्वस्थ, सुखी व सम्पन्न हो। यही वास्तु का उद्देश्य है। वराहमिहिर के अनुसार वास्तु का उद्देश्य इहलोक एवं परलोक दोनों की प्राप्ति है। महर्षि नारद कहते हैं–

अनेन विधिना सम्यग्वास्तुपूजां करोति यः।
आरोग्यं पुत्रलाभं च धनं धान्यं लभेन्नरः।।

इस विधि से सम्यक प्रकार से जो वास्तु (भवन विद्या) का सम्मान (पूजा) करता है। वह मनुष्य आरोग्य, पुत्र धन, धान्यादि का लाभ प्राप्त करता है। सही वास्तु के अभाव में भवन में रहने वाले व्यक्ति की पत्नी की मृत्यु, पुत्र पौत्रादि का नाश, धननाश, मानसिक अशांति, रोग, बेचैनी एवं विभिन्न प्रकार के उपद्रवों की प्राप्ति होती है।

वास्तु - एक धार्मिक अनुष्ठान

भवन निर्माण तकनीक एवं वास्तु विज्ञान दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं एक आर्किटेक्ट एक उत्तम भवन तो बना सकता है परन्तु उसमें रहने वाले प्राणी के सुखी जीवन की गारण्टी नहीं दे सकता। वास्तु विद्या इस बात की गारण्टी देती है। भारत में भवन निर्माण एक धार्मिक कृत्य है। भारत में भवन निर्माण का हेतु पुरुषार्थ चतुष्ट्य की सिद्धि है। यदि भवन निर्माण कला में से वास्तु विज्ञान को निकाल दिया जाये तो उसकी कीमत शून्य है। यह केवल ईंट पत्थर, लोहे सीमेण्ट का ढेर है और कुछ नहीं।

गृह निर्माण के हेतु को स्पष्ट करते हुए भारतीय मनीषि कहते हैं कि गृह का हेतु स्त्री-पुत्रादि सुख और धर्म, अर्थ, काम को देने वाला ही गृह है। भारतीय मनीषियों ने यहाँ शब्द-ब्रह्म की कल्पना करके व्याकरण को दर्शन रूप प्रदान किया, इस ब्रह्म की कल्पना करके काव्य को नादब्रह्म और संगीत को इहलौकिक पृष्ठभूमि से उठाकर पारलौकिक परम रहस्य में परिणित किया है। उसी प्रकार पाषाणमय प्रासाद में पुरुष की कल्पना को स्थायित्व देने के लिए वास्तु ब्रह्मवाद की कल्पना की गई है। वास्तुशास्त्र एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें परिमित भूमि अपरिमित विश्व-शक्ति में परिवर्तित की जाती है। वह अनाम एवं अरूप सत्ता तो इस वास्तु मंडल में नियंत्रित की जाती है उसे वास्तु पुरुष कहते हैं।

वृक्ष - देवता का स्वरूप

जनश्रुति, लोक विश्वास और साहित्य में वृक्षों को अपार स्नेह और श्रद्धाभाव से देखा गया

है। पूजा के लिए, फलों, बेलपत्र आम्रपत्र, दुर्वा, कुश, चन्दन आदि का प्रयोग सामान्य सी बात है। कुछ वृक्ष देवी-देवताओं के साथ जुड़े हैं। कृष्ण का नाम आते ही कदम्ब को कौन भूला सकता है। अशोक को कामदेव का वृक्ष माना जाता है। कहते हैं कि वह सुन्दरियों के पाद-प्रहार से खिलता है कमल विष्णु और ब्रह्मा का पुष्प है। लक्ष्मी को कचनार के फूल प्रिय होते हैं। बेलपत्र शिव पर चढ़ाया जाता है और पीपल के पेड़ पर यक्ष का वास माना जाता है। तुलसी को भी लोकमानस में विष्णु पत्नी के रूप में जोड़ा गया है।

यज्ञ कार्य हेतु पलाश, खदिर, अश्वत्थ, शमी, बड़, उदुम्बर, अपामार्ग, अर्क, दूर्वा, कुश, न्यग्रोध, पलक्ष, बिल्व, चन्दन, साल, देवदारु, गुग्गल, सरल, खेजड़ी इत्यादि यज्ञीय वृक्ष कहे गये हैं। इनकी समिधा हवन कार्य में प्रयोग आती है।

पर्यावरण के सन्दर्भ में वृक्ष एवं वास्तु की अवधारणा

बसने योग्य, निवास करने लायक भूमि के आस-पास किन-किन वृक्षों को बोया जाना चाहिए, यह वृक्ष-वास्तु का विषय है। पौधे और वनस्पतियों की दुनिया भी अजीब दुनिया है जो प्रकृति की रहस्यता और विराटता अनुभव कराती है। पेड़-पौधे अथवा वनस्पति की दुनिया प्रकृति का उल्लास ही नहीं व्यक्त करती बल्कि मन को भी विराट तत्व के साथ जोड़ती है। पेड़ों से लदे पहाड़, हरी-भरी उपत्यकाएँ, दूर तक फैले चारागाह और फूलों से भरी तलहनियाँ मन को न जाने किन ऊँचाईयों तक ले जाती हैं। मनुष्य और पेड़-पौधे का हर्ष-उल्लास का संबन्ध बहुत प्राचीन काल से है।

इस प्रकार आरम्भ से ही मनुष्य का जीवन और उसका ज्ञान-विज्ञान वनों में विकसित हुआ और इसके बदले में मनुष्य ने भी उनको अपूर्व आत्मीयता प्रदान की। वैदिक काल में भारतीय मनीषी प्रकृति के आराधक थे। वे वनस्पतियों को अपने अनुष्ठानों में विशेष महत्त्व देते थे।

उस काल में कई लोकदेवता थे, जिनमें मरुत, सूर्य, इन्द्र, वरुण, उषा, रुद्र आदि के साथ-साथ वनस्पति और वृक्ष को भी देवता कहा गया है। हमारे देश में वृक्षों के देवत्व और उनकी पूजा की परम्परा बहुत प्राचीन रही है। गीता में श्रीकृष्ण अपने को सब वृक्षों में 'अश्वत्थ' बताते हैं और अपने को अर्पित की जाने वाली वस्तुओं में स्वर्ण रत्न और बहुमूल्य वस्तुओं के नाम न गिनाकर केवल **'पत्रं पुष्पम् फलं तोयम् यो मे भक्त्या प्रयच्छति'** की बात करते हैं। बौद्ध और जैन परम्परा में भी वृक्ष-पूजा का महत्त्व बना रहा। गौतम बुद्ध ने बौधि वृक्ष के नीचे ही ज्ञान प्राप्त किया था।

वृक्षों में मानवीकरण की उदात्त भावना

पेड़-पौधे, फूल-फल सब मन को उल्लासित करते हैं। पेड़ सोचता है वह दूसरों के काम आए, फूल की आकांक्षा होती है कि वह मन को हुलसाये, फल का लक्ष्य होता है बीज-**एकोऽहं**

बहुस्याम--एक से अनेक बन जाऊँ। ठीक जमीन पर गिर जाये तो वह अपना अस्तित्व सार्थक मानता है। फिर से पैदा होने का सुयोग फिर विकसित होने का सुयोग और फिर वृक्ष से फूल और फल बनने का सुयोग। पर क्या मनुष्य अपना जीवन इतना सार्थक बना पाता है? जीव-जन्तु, पशु-पक्षी सब अपने परिवेश और पर्यावरण में खुश रहते हैं क्योंकि वे उसके अंग हैं। प्रकृति खुश है, पेड़-पौधे और जीव-जन्तु खुश हैं तो मनुष्य भी खुश है। यह खुशी पारस्परिकता और प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धि की खुशी है। इसी से जीवन में गुणता आती है। जिस से अमरता का अहसास होता है। यह तभी हो सकता है जब हम अपने आसपास के जगत को समझें, उसे आत्मीयता दें और अपने जीवन के लिए उसकी अनिवार्यता को महसूस करें।

वनस्पतियों में इतना बाहुल्य और विविधता है कि उनसे प्रकृति के विराट तत्व का अहसास होता है। हमारे देश में चीड़, देवदार, साल, शीशम, बांस, टीक, बौज के विशाल वन मिलते हैं। जहाँ पर कुछ भी नहीं उगता वहाँ कँटेदार झाड़ियां, बेर आदि तो उगते ही हैं। फलदार वृक्षों में आम, लीची, नीम्बू, नाशपाति, आड़ू, नारियल आदि बहुतायत से पाये जाते हैं। शोभाकार पेड़-पौधों में गुलमोहर, अशोक, सेमल, अर्जुन, पलाश, कचनार, महुआ, चम्पक, माधवी, चमेली, चाँदनी, मोंगरा, कदम्ब, हरसिंगार, केतकी, गन्धराज, नागकेसर आदि असंख्य नाम गिनाए जा सकते हैं। घरों के आसपास और बागों में फूलों से लदे वृक्ष हृदय को अपूर्व उल्लास से भर देते हैं। दूसरी ओर नीम, बड़, पीपल जैसे छायादार वृक्ष राहगीरों को शीतलता पहुँचाते हैं और थकावट दूर करते हैं। कोई भी ऐसा पेड़-पौधा या जड़ी-बूटी नहीं है जिसका घरेलू नुस्खे के रूप में कोई उपयोग न हो। पुष्प मनुष्यों के लिए प्रकृति का सबसे बड़ा उपहार है। सबसे बड़ी बात थी पुष्पों के प्रति उसका मनोवैज्ञानिक भाव। उसने अपने मन की सबसे बड़ी श्रद्धा, सौन्दर्य भावना और प्रसन्नता इतनी किसी और भी अर्पित नहीं की जितनी फूलों को। देवपूजन में जितना अधिक उपयोग पुष्पों का हमारे देश में होता है उतना कहीं नहीं। कहा गया है कि पुष्प धारण करने से कान्ति, काम और ओज की वृद्धि होती है।

पुष्पमस्य धारणं कान्ति वर्द्धनं काम कारकम्।
ओजः श्रीवर्द्धकं चैव पापग्रह विनाशनम्।।

वैज्ञानिकों ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि फूलों की सुगन्ध का मस्तिष्क के तन्त्र पर सुखद प्रभाव पड़ता है। उससे मन को अपूर्व शांति मिलती है और तनाव समाप्त होता है। यह भी माना जाता है कि फूलों की गन्ध नींद लाने में भी सहायक होती है। उच्च रक्तचाप के रोगियों को पर्याप्त आराम मिलता है। इसलिए प्राचीन काल में शयन कक्ष में पुष्प शैच्चाएँ होती थी और गुलाब जल, इत्र आदि का छिड़काव भी किया जाता था। केसर की क्यारियाँ हो या फूलों की घाटियाँ, वे हमारे जीवन को सुखमय बनाने में सहायक होती हैं।

वृक्षों का पर्यावरण को योगदान

पेड़-पौधें, उनके पत्तों, फूलों और जड़ी-बूटियों का पर्यावरण शुद्धि एवं मनुष्य जीवन को सुखद बनाने में बहुत बड़ा योगदान है। आज के प्रदूषित वातावरण में उनका महत्त्व और भी बढ़ गया है। वे ऊर्जा के सबसे महत्त्वपूर्ण संसाधन के रूप में सर्वाधिक मान्य हैं। वे सूर्य-ऊर्जा ग्रहण कर हमारे लिए ईंधन ऊर्जा के महत्त्वपूर्ण माध्यम बनते हैं। पेड़-पौधें जमीन से शक्ति ग्रहण करते हैं किन्तु वे जमीन को शक्ति भी प्रदान करते हैं। इनकी जड़ें जमीन को कसकर पकड़े रहती है जिससे धरती का संतुलन बना रहता है। पेड़ अपनी जड़ों से मिट्टी को पकड़े ही नहीं रखते जल का सन्तुलन भी बनाए रखते हैं और संरक्षण में भी सहायक होते हैं।

यह एक सामान्य तथ्य है कि पेड़-पौधे सूर्य की ऊर्जा को ग्रहण करने के लिए महत्त्वपूर्ण साधन होते हैं और वे **"कोटो सिन्थेसिस"** की प्रक्रिया के तहत कार्बन डाई-ऑक्साइड को ऐसे आवयविक कार्बन यौगिकों में परिणत करते हैं जो जीवन के लिए आवश्यक होते हैं। पेड़-पौधे कार्बन डाई-ऑक्साइड को आक्सीजन में बदलते हैं और हवा को शुद्ध करते हैं। वे वायु की गति को १५ से ५० प्रतिशत और विकिरणन को १० से १२ प्रतिशत कम करते हैं। वे २५ प्रतिशत प्रदूषण पर काबू पाने में सहायक होते हैं। वे ८० प्रतिशत धूल को रोक लेते हैं और कई विषैली गैसों को भी अपने में समाहित कर लेते हैं। नीम, तुलसी जैसे पौधे में यह गुण विशेष माना जाता है। रोग के कीटाणुओं को मारने में भी वे सहायक होते हैं। और तापमान को भी नियन्त्रित करते हैं। जहाँ गर्मी अधिक पड़ती है वहाँ के पेड़-पौधे वरदान स्वरूप हैं। वे आँधी-तूफान की गति पर नियन्त्रण रखते हैं। शोर प्रदूषण को कम करने में सहायक होते हैं। पेड़ और जल भी एक-दूसरे पर बहुत निर्भर करते हैं। जल स्रोतों को बनाए रखने के लिए पेड़-पौधों की जरूरत होती है। वर्षा का न होना, नदी-नालों का सूखना, शहरों में पानी की कमी का पड़ना ये सब ऐसे तथ्य हैं जो पेड़-पौधों के महत्त्व को जता रहे हैं। वस्तुतः पेड़-पौधें सृजन की महत्त्वपूर्ण कड़ी है। यदि पेड़-पौधे न हो तो पशु-पक्षियों और मानव के जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

आवश्यकता इस बात की है कि पेड़-पौधों की अनिवार्यता एवं महत्त्व को समझा जाए। उनके विनाश से पृथ्वी और उसके ऊपर जिये जाने वाले जीवन का संतुलन बिगड़ रहा है। अगर हम पेड़ काट रहे हैं तो अपनी ही जड़ें काट रहे हैं।

वृक्ष एवं वास्तु

वृक्ष और झाड़ियों का घरों में वास्तु सुधार प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण स्थान है। वृक्ष जीवित सता का प्रतिबिम्ब हैं। भारत और विदेशों में भी वृक्ष सौन्दर्य एवं दीर्घायु का प्रदाता माना गया है। वृक्ष के कारण घर के निवासियों को जीवन प्रदाता आक्सीजन एवं अनुकूल चुम्बकीय तरंगों की प्राप्ति होती

है। यह मानव को प्रकृति के निकट ले जाता है तथा घर की आँधी-तूफान, ट्रैफिक के शोरगुल एवं प्रदूषण से रक्षा करता है। वृक्षों के कारण बहुत बड़े भूखण्ड को सुन्दर एवं प्राकृतिक समरसता से भरपूर बनाया जा सकता है। L-Shaped भूखण्ड में जो दो कोने आधे-अधूरे छूट जाते हैं, श्रेणीबद्ध वृक्षारोपण से उन्हें चौकोर भूखण्ड में बदला जा सकता है। चीनी मान्यताओं के अनुसार वास्तुदोष शमन के जो परिहार है उसमें वृक्षों का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है। वृक्ष को हमेशा द्वारवेध से बचाकर लगाना चाहिए।

वृक्षारोपण

भारतीय संस्कृति व सभ्यता में वृक्षारोपण एक धार्मिक कार्य माना गया है। वृक्षों में भी प्राण संचार प्रक्रिया एवं मनुष्य के तरह सुनने और समझने की शक्ति को स्वीकार किया गया है। बृहत्संहिता में निर्देश दिया गया है–"वृक्ष लगाने से पहले व्यक्ति स्नान करके, पवित्र होकर, चन्दन आदि से वृक्ष की पूजा करे फिर उसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर लगाने, एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के पूर्व घृत, प्वस, तिल, शहद, दूध, गोबर इन सबको पीसकर मूल से लेकर अग्रपर्यन्त लेपकर वृक्ष को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जा सकते हैं। ऐसा करने से पत्तों से युक्त वृक्ष लग जाता है।

घर के समीप लगाये जाने वाले वृक्ष

पेड़, पौधे, वृक्ष, वनस्पतियाँ एवं पुष्प जहाँ प्रकृति के अनुपम सौन्दर्य के अनुपम अंग हैं वहाँ मानव मात्र के प्रति शुभ-अशुभ अनुकूल एवं प्रतिकूल भाग्य-रश्मियों के भी सूचक हैं। हमारे प्राचीन ऋषियों ने वनस्पति शास्त्र के औषधीय तत्वों को लेकर जहाँ बड़े-बड़े ग्रंथ लिखे वहीं वास्तु विद्या ने इन वृक्षों के शुभ-अशुभ परिणामों को लेकर विशद् अध्ययन किया। कौन से वृक्ष घर की चार दीवारी के अन्दर लगाने योग्य हैं? कौन से नहीं? कौन से वृक्ष सरोवर के तट पर लगने चाहिए? कौन से वृक्ष केवल सौन्दर्य की दृष्टि से उपोदय है? कौन से वृक्ष हवनीय दृष्टि से पवित्र हैं? विभिन्न ग्रहों की समिधायों में कौन-कौन से वृक्षों की लकड़ियाँ काम आती हैं। वास्तु विज्ञ को भवन के अन्दर एवं बाहर लगने वाली सभी प्रकार की लकड़ियों तथा सभी प्रकार के पौधों, पुष्प-वृक्षों की शुभाशुभ गुणवत्ता का ज्ञान होना चाहिए।

अशोक, पुन्नाग, मौलसिरी, शमी, शम्पा, अर्जुन, कटहल, केतकी, चमेली, पाटल, नागकेशर, अड़हुल, महुआ, वट, सेमल, वकुल, शाल आदि वृक्ष घर के पास शुभ हैं। पाकर, गूलर, आम, नीम, बहेड़ा, पीपल, कपित्थ, अगस्त्य, बेर, निर्गुण्डी, इमली, कदम्ब, केला, नींबू, अनार, खजूर, बेल आदि वृक्ष घर के पास अशुभ हैं। कई वृक्ष ऐसे हैं जो दिशा विशेष में स्थित होने पर शुभ अथवा अशुभ फल देते हैं जैसे– पूर्व में पीपल भय तथा निर्धनता देता है, परन्तु बरगद कामना पूर्ति करता है।

आग्नेय में वट, पीपल, सेमल, पाकर तथा गूलर पीड़ा और मृत्यु देने वाले हैं। परन्तु अनार शुभ हैं। दक्षिण में पाकर रोग तथा पराजय देने वाला है और आम, कैथ, अगस्त्य तथा निर्गुण्डी धननाश करने वाले हैं। परन्तु गूलर शुभ है। नैर्ऋत्य में इमली शुभ है। दक्षिण-नैर्ऋत्य जामुन और कदम्ब शुभ हैं। पश्चिम में बड़ होने से राजपीड़ा, स्त्रीनाश व कुलनाश होता है और आम कैथ, अगस्त्य तथा निर्गुण्डी धननाशक है। परन्तु पीपल शुभदायक है। वायव्य में बेल शुभदायक है। उत्तर में गूलर नेत्ररोग तथा ह्रास करने वाला है। परन्तु पाकर शुभ है ईशान में आंवला शुभदायक है।

ईशान-पूर्व में कटहल एवं आम शुभ है घर के पास काँटेवाले, दूधवाले तथा फलवाले वृक्ष स्त्री और सन्तान की हानि करने वाले हैं। यदि इन्हें काटा न जा सकता तो इन के पास शुभ वृक्ष लगा दें। काँटेवाले वृक्ष शत्रु से भय देने वाले दूधवाले वृक्ष धन का नाश करने वाले और फलवाले सन्तान का नाश करने वाले हैं। इनकी लकड़ी भी घर में नहीं लगानी चाहिए। बेर, केला, अनार तथा नींबू जिस घर में उगते हैं। वहाँ वृद्धि नहीं होती। पीपल, कदम्ब, केला, बीज, नींबू - ये जिस घर में होते हैं वंशवृद्धि नहीं होती। घर के भीतर लगाई हुई तुलसी मनुष्यों के लिए कल्याणकारी धन पुत्र प्रदान करने वाली, पुण्यदायिनी तथा हरिभक्ति देने वाली होती है। प्रातःकाल तुलसी का दर्शन करने से सुवर्ण-दान का फल मिलता है। अपने घर से दक्षिण की ओर तुलसी वृक्ष का रोपण नहीं करना चाहिए। अन्यथा यम-यातना भोगनी पड़ती है। मालती, मल्लिका, पोची (कपास), इमली, श्वेता (विष्णुक्रान्ता) और अपराजिता जो वास्तु भूमि पर लगाता है वह शस्त्र से मारा जाता है।

तुलसी का महत्त्व

तुलसी हिन्दू धर्म का एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण पौधा है। पौराणिक और धार्मिक ग्रन्थों में तुलसी का उल्लेख श्रद्धा और सम्मान सहित किया जाता है। पुराणों और अन्य धर्म ग्रन्थों के रचनाकारों ने तुलसी को सर्वप्रधान देव विष्णु की प्रिया के नाम से सम्बोधित किया है। भगवान विष्णु का दूसरा नाम है हरि, इसलिए तुलसी को हरिप्रिया भी कहते हैं। तुलसी दल के बिना पूजा नहीं की जाती। संसार में जितनी भी वनस्पतियाँ पाई जाती हैं तुलसी का पौधा उन तमाम पौधों में महत्त्वपूर्ण पौधा है।

वास्तव में तुलसी अमृत है ईश्वरीय वरदान है। तुलसी एक मात्र संसार का ऐसा पौधा है जिसके अंङ्गों में समाया हुआ रोगनाशक तेल हवा के झोंको के स्पर्श से निकल कर आसपास के वायुमण्डल में फैल जाता है। यह तेल तुलसी के पौधे के आसपास रहने, छूने, रोपने और जल चढ़ाने वाले लोगों की अनेक प्रकार के रोगों के आक्रमण से रक्षा करता है। तुलसी का तेल क्षय रोग के कीटाणुओं को समाप्त कर देता है। और मलेरिया को तुलसी द्वारा समाप्त किया जा सकता है। चर्म रोग, सीने में दर्द, स्तन पीड़ा आदि रोगों को नष्ट करता है। तुलसी में पारा होता है। जब सूर्य या

चन्द्र ग्रहण होता है तो वायुमंडल दूषित हो जाता है। उस समय घर में मौजूद जल और खाद्य पदार्थों में तुलसी के पत्ते डाल दिए जाएँ तो दूषित पर्यावरण का उनपर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। यदि तुलसी के पत्तों को जल में कुछ देर पड़े रहने के बाद उस जल से स्नान किया जाए तो चर्म रोग नहीं हो पाता। तुलसी के पौधे आँखों को ज्योति और मन को शांति प्रदान करते हैं तथा वातावरण में सात्त्विकता की वृद्धि करते हैं। तुलसी का पौधा घर के पूर्व, उत्तर या ईशान में हो तो उसका प्रभाव बहुत उत्तम रहता है। उसके औषधीय गुण बढ़ जाते हैं और इस पौधे के आध्यात्मिक तत्व में भी वृद्धि होती है। यह पौधा मन, वचन और कर्म से पवित्र रहने की प्रेरणा और शक्ति प्रदान करता है।

नारियल का वृक्ष

नारियल का वृक्ष एक ऐसा वृक्ष है जो घर में लगाने वाले की अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। नारियल के वृक्ष का प्रत्येक अंग लाभकारी और जीवनोपयोगी होता है। इसीलिए इसे जीवनतरु के नाम से पुकारा गया है। सूखे नारियल को श्रीफल कहते हैं जो ऋद्धि-सिद्धि प्रदान करता है। इसीलिए देवताओं को समर्पित किया जाता है। प्रत्येक पूजा के अवसर पर कच्चे नारियल की गिरी प्रसाद के रूप में वितरित की जाती है। नारियल का वृक्ष घर की चार दीवारी में लगाना शुभ फलदायक माना गया है। यह वृक्ष गृहस्वामी की लक्ष्मी व ऐश्वर्य को बढ़ाता है।

नारीकेलसमाकारा दृश्यन्तेऽपि हि सज्जनाः।
अन्ये बदरिकाकारा बहिरेव मनोहराः।।

सज्जन पुरुष नारियल के फल के समान होते हैं जबकि दुर्जन पुरुष बेर की तरह ऊपर से मनोहर दिखलाई देते हैं परन्तु अन्दर से कठोर होते हैं। नारियल बाहर से कठोर और अन्दर से नरम मृदु एवं स्वच्छ होता है।

बिल्व वृक्ष

बेल या बिल्व का अर्थ है–रोगान् बिलति भिन्नति – अर्थात् जो रोगों का नाश करे। ग्रहों का मनुष्य के क्रिया-कलाप पर प्रभाव पड़ता है। ग्रह शांति के लिए भी बेल पत्रों का प्रयोग किया जाता है। इनमें भगवान शिव का अंश रहने से ग्रहों का उपद्रव शांत हो जाता है। घर के बाहर एवं मन्दिर के प्रांगण में बिल्ववृक्ष का होना अत्यन्त शुभ माना गया है। यह वृक्ष भूखण्ड के पूर्व या ईशान की ओर होना चाहिए।

पीपल वृक्ष

पीपल का वृक्ष सभी वृक्षों में पवित्र माना गया है। इसकी पूजा की जाती है। यदि पीपल को पृथ्वी का कल्प वृक्ष कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। पीपल का वृक्ष मनुष्य के रोगों को ही नष्ट नहीं करता, मन की मनोकामनाओं को भी पूरा करता है। पीपल के वृक्ष को शास्त्रों में कहा गया है अवत्थ अर्थात् पीपल देवताओं का घर है। पीपल में एक ऐसा महत्त्वपूर्ण गुण है जो अन्य वृक्षों में नहीं पाया जाता। वह वातावरण में व्याप्त दूषित गैसों को नष्ट करने के लिए आक्सीजन छोड़ता रहता है। इसलिए दमा और अस्थमा के रोगी के लिए लाभदायक है। पीपल के वृक्ष की अन्य विशेषता है उसकी छाया की शीतलता सर्वाधिक प्रिय मानी गयी है। पीपल का नाम 'चल' वृक्ष भी है। जिस समय हवा बिलकुल शांत होती है अन्य वृक्षों के पत्ते स्थिर हो जाते हैं। लेकिन इसके पत्ते निरन्तर हिलते रहते हैं। इसके गुणों के कारण ही पीपल के वृक्ष को आरोपित करना पवित्र, धार्मिक और पुण्य कार्य माना गया है। पीपल के वृक्ष से लगभग सभी मानवीय रोगों का उपचार किया जा सकता है। पीपल घर में नहीं लगाना चाहिए। घर की चार दीवारी के बाहर पश्चिम दिशा में पीपल लगाया जा सकता है।

PUJA GHAR

Rajinder Kumar Sachar

Introduction

'Vastu' comes from the Sanskrit '*Dhatu*' (Verb) '*vas vasay*' or '*vas nivasay*'. In Vedic parlance, it means land suitable for residential purposes. Extending this meaning, it also conveys place of residence for human beings.

Vastu in Ancient Literature

In the ancient-most scripture '*Rik Samhita*', numerous prayers have been made to ''*Vastoshpati*' --the '*Vastu Devata*' (Deity) to give us protection. References are also available in ancient Hindu scriptures like the '*Vedas*' and the '*Puranas*'. Many specific ancient scriptures are available on '*Vastushastra*'. They are known as '*Varastu Granthas*'.

Vastu References in Ramayan and Mahabharat

The epics '*Valmiki Ramayana*' and '*Mahabharata*' also render proof of the principles of '*Vastu*' being known at that time. In '*Ram Charit Manas*'. which is a recent version of '*Ramayana*', Swami Tulsidas makes a mention of the word 'Beethi' in the following '*Doha*':

Kanak Kot Vichitra Mani Krit Sundertayana Ghana
Chauhatta Hatta Subatta Beethin Charu Pur Bahu Vidhi Bana

'*Beethi*' is a commonly used word in '*Vastushastra*' and literally means a '*Gali*' i.e., a lane. '*Ram Charit Manas*' was written only about five hundred years ago. Therefore, a critic can, with ample justification, say that it is not ancient literature. Let us turn to '*Mahabharata*' which was written about five thousand ago by '*Rishi Ved Vyasa*'. Before the war between '*Pandavas*' and '*Kauravas*' began, mention comes of a building in which what appeared to be a door turned out to be wall. What appeared to be a lush green grassy lawn turned out to be a pool of water.

The same epic also tells us of a building which was made of lacquer. It was built by the '*Kauravas*' with the intention of setting it on fire when the '*Pandavas*' come to reside in it on an invitation from the '*Kauravas*', thereby eliminating all the '*Pandavas*'. It could not be known by seeing the building that it was made of lacquer. Only an inside intelligence forewarned the '*Pandavas*' about the conspiracy and they escaped stealthily just in time.

What is Vastu

The foregoing examples have been mentioned here with a view to emphasizing that the art of construction was well advanced in India so long ago. It must, however, be added hastily here that '*Vastu*' does not deal with the engineering aspects of construction. The latter is much more developed these days than it was during those times. Today, a computer can lay down the blueprint of even a multistored building in a very short time. '*Vastu*' touches those aspects of construction, architecture and planning which aim at utilizing the abundant natural resources and energies in such a manner that help the occupants and residents of the building in subtle ways and protects them against the possible ill effects of wrongly locating certain portions of the building. It also forewarns them against undertaking plantation in inappropriate places.

The Essence of Vastu

Essentially, '*Vastushastra*' is a set of principles and rules that seeks favours from '*Vastoshpati*'. These principles are different for residential and commercial buildings (which also includes place of work) and for Temples.

Pioneers of Vastu

Names of many ancient '*Rishis*' are linked with '*Vastushastra*'. Two important ones are Vishwakarma and Maya Danava (Father-in-law of Demon Ravana).

Aims of Vastu

Essentially, '*Vastu*' aims at ensuring facility (comfort) and security. The principles and rules of '*Vastushastra*' seek to enhance these two aspects.

Panch Mahabhoot

"*Yatha Pinde, Tahta Brahmande*" --i.e., the human body is made of the same stuff as the universe. There are five elements called '*Panch Mahabhoot*' which constitute the entire universe. They are '*Prithvi*' (Earth), '*Jal*' (Water), '*Teja*' or '*Agni*' (Fire), '*Vayu*' (Air) and '*Akash*' (Space). Proper balance of these '*Panch Mahabhoot*' enhances physical as well as mental capabilities of the individuals. The first four are actually used in '*Vastushastra*'. The subtle fifth element viz., '*Akash*' (Space) is needed to accommodate the other four. It would be incorrect to ask which one of these '*Panch Mahabhoot*' is more important. Each has its own importance. In fact each is '*Purna*' (Complete) in itself. '*Purnam Adaha, Purnam Idam*'. In reality, there cannot be more than one '*Purna Tattva*'. It is the 'God Fibre' which converts itself into every thing that can be imagined. It is not like a *Kumbhakar* (An artisan who makes earthenware pots) who needs earth to make pitchers. It is more like a spider which takes out the fibre from itself to make a web. Although we shall be transgressing into the domain of '*Adhyatma*' (Philosophy) and, for this reason it is being left here, the subtle connection with '*Vastu*' is evident.

Earth is the grossest amongst the '*Panch Mahabhoot*'. It has five '*Guñas*' viz., '*Shabda*' (Word or sound), '*Sparsha*' (Touch), '*Roop*' (Shape), '*Rasa*' (Taste) and '*Gandha*' (Smell) --the last one being typical to Earth only. '*Rasa*' is the typical quality of Water and Earth only. In this fashion, '*Shabda*' is the only quality of '*Akash*' while '*Shabda*' and '*Sparsh*' both are the '*Guñas*' of Air. '*Shabda*', '*Sparsh*' and '*Roop*' are the qualities of '*Teja*'.

From the point of view of building construction, density and solidness of the earth constituting the soil in the plot is of prime importance. Needless to say, rocky and dense land is the best while loose earth having organic materials, bones etc., are unsuitable.

Energy Sources in Vastu

Sun and Earth are the only heavenly bodies taken into consideration in the principles and rules of '*Vastu*' as far as sources of '*Vastu*' energy are concerned. Gravity, Magnetism and Solar Energy are the three sources of '*Vastu*' energy.

Gravitational Energy

Hard and solid soil providing the foundation of a building ensures adequate gravitational energy which operates in vertical direction. Buildings constructed on loose soil are more likely to collapse.

Magnetic Energy

Earth's magnetic field runs in North-South direction. Sleeping with head in South helps being in harmony with this energy. Many a patient suffering from mental tension or with undiagnosed ailment have reported to have benefitted by simply ensuring that they sleep with head in the Southk or, when the bed cannot be laid in the South-North direction, in the East. What needs to be avoided at all costs is head in the North.

Solar Energy

Likewise, solar energy flows in abundance from East to West. This statement is subject to criticism as it can be argued that solar energy flows from West to East in the evening. The following points are relevant in this connection.

Ultra Violet and Infra Red Rays in the Sun

The morning Sun has abundance of Ultra-violet rays which are good for human beings. The evening Sun is rich in Infra Red rays whihc are injurious and, therefore, not considered good. Hindu scriptures advocate watching the morning Sun rising on the Eastern Horizon and bathing in the sun at sunrise while seeing sunset should be avoided. This is in direct contrast with Western culture where sunset beauty is sung much more.

Positive and Negative Energy Sposts in Vastu

What is not known to the West, but what was discovered as far ago as in Vedic times in India is the fact that there are a few spots in Eastern and Northern directions which are called '*Shubh Oorja Sthan*' (Places generating benefic energy), and some other spots in south and West which are called '*Ashubh Oorja Sthan*' (Places generating malefic or negative energy). When sunlight falls on the benefic spots, the residents of the building get enthusiasm and positivity while if sunlight falles on the malefic spots, it generates and increases negativity. It is, therefore,

advocated in '*Vastu*' to keep windows etc. on these benefic spots and not to have openings in the malefic spots. This also explains why it is desirable to have tall trees in the South and West so as not to let sun fall on these spots and, at the same time, to leave East and North as open as possible.

Relative Motion of Earth and Sun

Secondly, it may be noted that although we do not perceive that we are moving ahead, the fact is that the Earth is spinning and this itself gives it a speed of approximately 1700 KMs per Hour on the surface. In addition to this, the Earth is moving ahead at a far greater speed on account of its incesant revolution around the Sun taking one solar year. This means that the spin and revolution of the Earth is taking us ahead at tremendous speed against the flow of solar energy. The Earth is, therefore, in relative motion against the solar energy which is perceived by us as coming from the East direction.

The North East Corner

It would be seen from what has been mentioned above that with Magnetic energy running North-South and Solar energy running East-West, the North-East corner of the house becomes the most important inlet of energy.

Capturing Maximum Energy

Let us take a paper bag. We want to fill air in it by moving it against the opposing wind. The shape that will allow maximum air to come into the bag is a narrow and open frontage and a high closed rear. Besides, the front should be lower than the rear.

Another example is that of a scoop used for taking out some quantity of grain or a powdered substance such as flour from a heap or a gunny bag. The scoop is also narrow, open and low in front and high and closed at the rear and it is made to pierce the heap of grain or flour with a forward and a slight downward movement. Here, the grain or flour is stationary but the scoop moves. Nonetheless, the motion is relative to each other.

The same principle applies to letting solar and magnetic energies come into the house. In order to collect this energy in the house, the North East of the house should be low and narrow so as to make an acute angle at the inlet. At the same time, the house should be tall and closed in the South, West. It is for this reason that any extension of the North-East corner renders the plot more auspicious. Likewise, tall and huge obstructions in front of a house in the North and East directions are considered undesirable as they are likely to obstruct inflow of energy while it is suggested that plantation of tall trees in South and West should be undertaken.

Vastu Approved Buildings can withstand Natural Calamities

Buildings constructed in harmony with '*Vastu*' also possess the potential of remaining least afected by the vagaries of weather. The scriber of this project is in a position to testify this statement from personal experiences during two natural calamities in the State of Orissa. In the year 1982 while he was posted in the Cuttack district in Orissa, there was a severe cyclone followed by floods which devastated the Paradeep port. Thousands of lives were lost. The severity of that cyclone can be gauged fromt eh fact that in a village more than one hundred kilometers away from the sea-shore towards Daitary mines, a bullock cart carrying four passengers got sucked to a height of about four hundred feet above the ground level before dropping and killing all the passengers and the bull.

Apart from witnessing widespread devastation, he saw during the relief activities that electricity poles made of solid 'I' beam steel girders had got twisted making a complete loop. Yet, most of the temples in the area (there are plenty of them there) stood tall in place with minimal damage.

The scriber experienced another cyclone on 30th October 1999. He was having a haircut in his official residence in Bhubaneswar when suddenly, high velocity winds started blowing. Within a short time, the storm became so intense that he witnessed a huge mango tree in the compound of the quarter getting uprooted in the twinkling of the eye and that too, as smoothly as the plucking of a flower. Bhubaneswar is located about a hundred kilometers away from the eye of the storm that visited the Eastern coast between Kendrapara and Puri on that day. Once again, there was widespread damage and all communications got snapped. Again, thousands of lives were lost in Kendrapara district near sea-shore ahead of Cuttack city. On

this occasion too, little damage was suffered by numerous ancient temples stretching along the coastal belt. It would be in place to mention here that Bhubaneswar is known as the city of temples - implying that there are so many of them there and all ancient religious construction has been done in accordance with principles of '*Vastu*'.

A case of Beneficial Effect of Acute Angled North-East Corner in a Temple

The scriber of this project was a regular visitor to the 'Lord Vinayak Temple' in Sarojini Nagar, New Delhi in the mid Nineties. Even though the management of this temple is not commercial minded, many people visit this temple and it has been doing very well in rendering service as well as in being financially viable. The inside of the temple has an acute angle in the North-East corner. Not conversant with the principles of 'Vastu' then, the scriber thought that this was a fault in construction. It is now clear that it was a conscious decision and this, in all probability is one of the reasons behind the well-being of the temple.

A Place for God in Residential Premises

Many well-to-do people amongst us spend huge sums in providing themselves with luxurious drawing rooms, bedrooms and bathrooms. We also cater for the casual guests by having guest rooms while planning and constructing new residential buildings. We cater for our own needs, the needs of our children and some grateful ones amongst us, to the needs of our parents and elders too. But very often, we do not cater for a place for the almighty in our plans. Although God is the closest and, in fact the only real and permanent relative of ours, we do not treat Him even as close as we treat a worldly guest and forget to provide Him a place in the house.

God's Place in the Nine-Door House

Saints and realized souls tell us that the Almighty has already reserved the most important place in the nine openings house (the human body) for Himself and this abode is the human heart. Yet, we do not take a clue from this. We forget that the Almighty who has provided all of us with everything we posses or own -- including our body itself - needs to be remembered and thanked for and we should make Him a co-inhabitant in the house. Indeed it is thaklessness on our part.

Improper Locations for Puja Ghar

If at all we cater for a 'Puja Ghar', it is in a least important joint in the house. Some common choices are listed in the following paragraphs :

Puja Ghar Below a Stair Case

This is the spot in the house which would otherwise have hosted the useless articles in the house. By locating 'Puja Ghar' here, whenever we alight or descend, we will be having the photographs of the deities below our feet. It is also a closed space with inadequate height and inadequate light. It is not able to yield any kind of privacy or serenity. This cannot be a suitable spot for 'Puja Ghar'.

Puja Ghar in the Bedroom

Often, the '*Puja Ghar*' is located in the bedrooms. This is not in tune with the principles of '*Vastu*'. In '*Puja Ghar*', articles of sense gratification - i.e., anything given by the Planet Venus ('*Shukra*') should not be kept. On the contrary, articles pertaining to Jupiter (*Guru*) are welcome. The reason is that the ultimate aim of '*Puja*' is to develop '*Vairgya*' whereas articles of '*Shukra*' take on to indulgence in '*Bhog Vilas*'. Jupiter and Venus are not the best of friends. This explains why it is not desirable to have '*Puja Ghar*' in bedrooms as it is the place of one of the most important sense gratifications viz., '*Kam Vasna*'.

Also imagine a situation in which a school or college going child wants to say his or her prayers in front of the almighty before leaving very early in the morning for exams. He may have to enter the bedroom at a time when one or both the parents have not yet got up. This is likely to disturb the parents.

Or take the case of a guest who wants to do his prayers in one's '*Puja Ghar*'. The scenario can become embarrassing sometimes.

Puja Ghar in Kitchen

Another common practice seen in recent years is that people are having a small 'Puja' place in the kitchen itself. One reason behind this practice comes from the fact that residential places have become much smaller-independent houses having given way to group housing and multistoried flats leaving little space for a separate 'Puja Ghar'. This practice too, is not in accordance with the principles of 'Vastu'.

The level of tranquility and serenity expected to be obtained in the 'Puja Ghar' just cannot be achieved in a kitchen.

Even in an average sized family, the kitchen is a very busy spot. Gone are the days when cooking only two square meals was what a kitchen was meant for. The number of times a cup of tea needs to be prepared can be high these days, especially if the household receives many guests. In addition to this, the number of times one has to visit the kitchen for fetching a glass of water would easily be in double figures. We have to take notice of the fact that with increasing dependence on technology these days, aqua guards are fitted in every kitchen and that is the only source from where we fetch drinking water. In summer season, one may fetch it from a frig, but during winter season, not only does one get it direct from the kitchen, but it may even have to be warmed too either on gas or on a heater or in a microwave oven, all of which are usually in the kitchen.

Cooking may be going on simultaneously while someone is trying to say one's prayers. One can easily visualize a situation in which smell of fried condiments gets mixed up with that of incense. And if it happens to be a Non-vegetarian kitchen, then the situations becomes far worse.

Another thing that has to be taken note of is the fact that these days almost every middle class family depends on domestic help. The Aya or the servant is occuping the kitchen for a substantial time during the day.

We can see from the above that one may not be able to get any time to oneself in a kitchen to do even as small as a fifteen minutes prayer. Kitchen is, therefore, also not the right place for saying one's prayers.

Most Appropriate Spot for Puja Ghar

We have seen above that the two important directions in a residence are East and North. The most auspicious corner is, therefore, the North-East corner or the '*Eeshan Kona*'. It is ruled by Lord Shiva himself, the '*Devadideva*'. Goswami Tulsidas writes in his immortal '*Shri Rudrashtakam*':

'Namami Shamishan Nirvana Roopam'.

Lord Shiva is the giver of knowledge which in turn us leads to '*Nirvana*'. He is also the deity for giving results of '*Mantras*' used in daily worship.

Apart from these considerations, North-East corner is the place where morning sunrays enter the house. Thus North-East is undoubtedly the best spot for '*Puja Ghar*'.

Alternative Locations for Puja Ghar

Just in case it is not possible to locate the '*Puja Ghar*' in North-East corner, North or East directions are the next best choices. In case any of these too cannot be made available for the '*Puja Ghar*', south-East corner also is acceptable. South direction is not suitable because this is the direction of '*Yama*'. Positive energy which we expect to get from the '*Puja Ghar*' will not be coming our way.

Placing Pictures of Deities in Puja Ghar

The pictures of Gods and Goddesses in '*Puja Ghar*' should be placed on wooden stools or on a throne in a manner which allows the person doing worship to face East or North. In any case he should not face South. Also, the pictures of the deities should not be kept in the exact North-East corner, but somewhat away from it on either side. The pictures should also not be torn or damaged.

Within the '*Puja Ghar*', '*Havan Kunda*' and 'Deepak' (The sacred worship lamp) should be placed in the '*Agni Kona*' (South East corner) of the room so as to be in consonance with the principles of '*Vastu*' within the '*Puja Ghar*'. Articles connected with the worship rituals and religious books etc. should be stored in a shelf or almirah in the Southern or Western walls of the room. Door should preferably be in East or North. Alternatively, West is also acceptable in case of constraints, but South should be avoided. So is the case with windows.

If '*Havans*' are undertaken frequently, more doors and several windows should be provided. Although the smoky air rising from the '*Havan Kunda*' is auspicious and should be retained as far as possible, if firewood is wet or not properly burnt, it is best to have an exhaust to suck it away.

Displaying photographs of Pitras

Photographs of '*Pitras*' (Those ancestors who have left for Heavenly abode) should not be displayed in the '*Puja Ghar*'. The best spot for them is the South-West corner of the house. If these photographs have to be displayed in the '*Puja*

Ghar' only either for sentimental reasons or for considerations of lack of space, they should be displayed in the Southern or Western side of the room.

Prana Pratishthit Statues

As far as possible, three-dimentional sculpted statues which are '*Prana pratishthit*' (Infused with 'Pranas' (Life energy)) should not be kept in the house for worship. These days, it is in fashion to display statues of Gods and Goddess especially of Lord Ganesha in the house. As long as these statues are not 'Prana pratishthit' they may be kept as show pieces in drawing rooms or lobbies. If at all a 'Prana pratishthit' statue is kept, it should not be more than six inches tall. If this is done, all care of this '*Prana pratishthit*' statue should be taken as if it were a living being. It has to be fed, bathed and taken care of with adoration.

Puja Ghar to be away from Toilets

'*Puja Ghar*' is the most pious spot in the house. It goes without saying that it should not be near a toilet or bathroom. The word connotation of 'near' is to be observed in all directions i.e., not only to right or left but above and below as well. In fact there should be no bed-room above the '*Puja Ghar*'. In multi-storied flats, it becomes difficult to ensure this. More so in Duplex flats where a neighbour's bedroom may be just above your kitchen or '*Puja Ghar*' etc.

No stairs to be kept in Puja Ghar

Stair case should not be located in the '*Puja Ghar*'.

The Puja Ghar Ambiance

'*Puja Ghar*' should be able to provide a serene environment. Anyone who enters it should feel being at peace. The ambient surroundings should automatically generate a feeling of calmness and tranquility. One should be able to get positive vibes in the '*Puja Ghar*'. The environment should be conducive to meditation and introspection. Radios and TVs should not be installed in '*Puja Ghar*'. They should also not be loud enough if located at other places to interfere with the serenity of the '*Puja Ghar*'. No other kind of distraction should be able to penetrate and disturb the concentration of the person who is trying to contemplate on the Almighty.

Light and Ventillation in Puja Ghar

Nothing like a 'Puja Ghar' that allows natural light and fresh air to enter it. With increasing global warming, it may be necessary in summers to depend on electric fans and exhausts. However, they should be used at such speed and operated from such direction that the flame of the holy light ('*Deepak*') does not flicker.

Puja Ghar in Very Small Flats

How is one to have a '*Puja Ghar*' in a one bedroom or a two bedroom house where pressing demands on space do not allow even mundane day to day needs of even a miniature family? In case it is not possible to follow what has been mentioned above, one must always remeber that God is present everywhere. In fact the feeling that one is constantly in the company of the Lord who resides in everyone's heart is the best '*Puja*' and there is no better '*Puja Ghar*' than the human heart. Constant endeavour to keep this place of worship viz., the 'Anhahakaran' clean at all times is the best '*Puja*'.

The Vastu Bedrooms

Vinnie Agarwal Mittal

Vaastu Shastra is the ancient science of architecture that teaches how to live in harmony with nature and how to influence nature so that it works for your benefit. It is part of a vast body of Vedic knowledge written over 5,000 years ago. 'Vastu' means dwelling and 'Shastra' means scientific treatise--the science of designing and building homes according to the eternal laws of nature.

Whether you live in a simple thatched hut or a substantial estate, if it has been built according to the rules of Vaastu, you will have a heaven--a refuge from the chaos and confusion of the outer world. Nature's bounty will flow in your life and its severity will be subdued. By living and working in such an environment, nature will support you and your life will progress in a smooth and beautiful way.

Considered an integral part of the Indian home, Vaastu's significance stems from much more than the placing of a window. It works on the basic premise that the earth or soil is acutally alive, and that all living or organic creatures emerge directly from it. This life force within the earth is called Vaastu, and all objects placed on it share this life force. The earth therefore works as both substance and support. Vaastu is also explained as the living space (vas meaning "to be" or "to live").

Elements of Vaastu

Space, time and energy are traditionally perceived as existing in their free, unlimited state. Vaastu believes that these three elements can be disciplined by applying rhythm and order (in other words, science) to the way we live, move, and use time.

Vaastu's History

Purely technical, ancient Indian Vaastu was confined to architects (Sthapathis) and handed over by word of mouth or through hand-written monographs. It was treated as the science for the construction of temples and royal palaces. The principles

of construction, architecture and sculpture have been incorporated in the science.

The first offical treatise on Vaastu, the Kasyapa Silpa, has been attributed to Sage. Kasyapa. In the treatise Agama Sastra, which explains the science of temples, Vaastu is considered the basis for any type of construction. Excavations at Harapa and Mohenjodaro are also proof of the influence of Vaastu on the Indus Valley Civilisation.

Vaastu Philosophies

Paramatman/ Jivatman

Panchabhoota

Dvaitam/ Advaitam

Purusha / Prakriti

Shivam /Shakti

Triguna

Karma Bandhanam

Vaastu Shastra is an integral part of Vedic culture and philosophy. The five elements of nature, namely: earth (stability) water (purity); fire (energy and power); air (pervasiveness) and space (creativity and dynamism) In this way, the five elements of nature are co-related with everything that goes on in the Universe.

Jivatman:

Some locations are sacred in their very character. In such places, the building also imbibes power, which can bestow siddhi or spiritual powers to the occupants. The physical abode is the resting place for the body, psyche, and spirit of the individual and the smaller unit of a family or group. This is the shape wherein the *jivatman* of the individual can achieve spiritual harmony and contentment, during their sojourn in earthly life.

Panchabhoota:

Kshiti-Jala-Pavak Gagan Samira |
Panch Tatva Yeh Adham Sharira ||

This sinister body is composed of five elements, Panchabhoota. -earth, water, fire, ether and air. In other words, these five elements, play a subtle part inthe emanated form and each has its location and role, meaning and power.

Dvaitam/Advaitam:

To achieve tha sublimation of the jivatman with pramatman, two paths have been recommended, one known as Dvaitam and the other as Advaitam.

Purusha:

Vaastu Purusha is the body on which every aspect of human activity is carried out. Whether we build a house or playground, we place it upon the sacred body of the cosmic, in order for it to reside with us. The manifestation of energy in the universe of reality, or prapancha is the movement of purusha/prakriti.

Shivam/Shakti:

This movement from stillness and bliss into manifestation is the secret of creation. The still centre is known as Shivam, and the energy which is the energy of creation is Shakti, the former the male principle and the latter the female.

Triguna:

Each physical form is perceived as a composition of three: Gunas or characteristics known as Satvika, Rajasa, and Tamasa. When one of these Gunas is predominant, then the nature of the material objects takes on the dominant charater.

In Vaastu, the three Gunas are characterized bythe three shapes of a circle, octagon and square respectively.

* The energy contained within the square and rectancle is the most stable, restful and in equilibrium. This is considered suitable for residences and places of learning.

* The energy contained in a polygon is a suitable centre of energetic activities, such as offices.

* The energy contained in the circle is very high, and is suitable for entertainment centres, amphitheatres, council chambers, and sometimes for religious centers such as prayer halls and temples.

Karma Bandhanam:

It is the confinement of each individual to repeated births as a consequence of action accrued in each birth. The delusion of a trouble-free existence must be effaced, so that the spirit can accept and live through the travails and the highs and the lows with equanimity and grace.

Significance of the Directions

Apart from the natural magnetic influx and gravitational power of Earth, the reflected power of the moon, and the direct transmission power of the sun, our maharishis have visualized a constant magnetic gravitational power in space flowing from the North-East corner to the South-West corner of the entire topography oftheuniverse including Earth.

This force has been allegorically depicted as Vastu Purush with head in the North East and legs in the South West and as personifying the dwelling place.
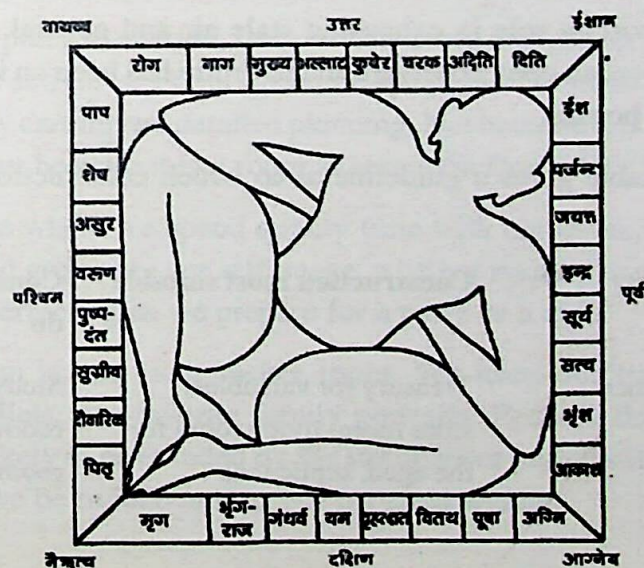
Directions continuously exert their influence on the human life. If they are used properly according to the law of the nature, the house proves to be the most fortunate one for the inmates.

Praasade Sadne-Linde Dware Kunde Visheshtah |
Digmude Kulnashah Syata Tasmat Sansadhayedhyish||

This shloka says that at the time of construction of Prasad (temple of palace), house, verandah, door, havan kund, especially should be done because in case of wrong directions an entire generation would be subject to misfortunes.

Amarkosh (a Sanskrit lexicon) mentions the directions.

Suryah Shukromahosunuhracharbhanu Hojujovidhas |
Budho Briharachatishcheti Disha Chain Grahah ||

According to the shloka, directions of the planets are:

Vaastu Shastra also dictates very clearly which type of construction should take place in which direction guarded by a particular deity. It gives a blueprint of a sixteen room plan for the basic layout of the house.

That is also why; there is a provision of construction all around the courtyard and providing it with llot of doors and windows. An open courtyard in the centre also plays an important role in exhausing stale air and general ventilation of the whole house. Hence, an open courtyard in the centre has been an integral part of the traditional Indian houses.

Following table gives a guideline as to which construction will suit which corner of the plot.

Direction	Diety	Construction most suitable	Construction that will do
North	Kuber	Treasury for valuables, store room, living room for the aged, septic tank	Study room, Children's' room, entertainment rooms.

North-East	Soma, Shiv	Entrance other than main gate, porch, worship room, water storage facilities.	
East	Surya, Indra	Bathroom, storage of oils and fats, ladder, septic tank	Children's room
South-East	Agni	Kitchen	Dressing room
South	Yama	Bedroom, toilet	Stairs
South-West	Demon or Daitya	Storage of heavy machinery, bedroom for the house owner, dressing room.	
West	Varun	Dining room, Study room	Bedroom, toilet
North-west	Vayu	Cattle-shed, storage of cereals	Guest room, toilet and entertainment
Centre of the plot sky Nether World	Brahmasthana endless Vaastu Purush	Courtyard, common room, highest part of the house, underground construction, basement etc.	Living room

Bedrooms -An introduction

Bedroom -a place to unwind, let your hair down and put up your feet -all very casual and private activities. For all the time spent and the intimacy it demands, a bedroom takes very careful and detailed planning. Not because it is the most personal room in a house but because it is a room Where You Dream!!!

It's the place where we spend quality time with ourselves, reflecting on our own reflections and grooming our self image, whether rushing to get ready for work or primping and perfecting as we prepare for a party or a date.

Our bedroom is our most secure room. We keep our treasures here, our jewellery, our wallets, our favorite family portraits. Perhaps this is because this room is the least likely to be invaded by the strangers or perhaps it is crucial to truly restful sleep that we be nestled amidst our personal wealth.

Besides family, the bed room rarely observes outsiders. Only our closest friends are invited to enter to share private thoughts made comments on the latest wardrobe additions or to borrow them. Once in a while however the room is invaded.

Our vildest dreams transport us to faraway lands and exotic cultures. So in the room which we are most free to indulge our drams, it's appropriate that we feel free to decorate accordingly. The bderoom should foster romance; it should indulge our passions. It should be shrouded in mystery, or packed with fun. The bedroom is a place where we can get silly, erotic, or outrageous. Bedrooms are greaty places to let the imagination soar, to let go with a jungle theme, or show off a doll collection. You can paint trees on the walls or mount bird houses on bedposts.

Bedrooms may be broadly classified into categories based on various age groups-

The Master Bedroom

The Children's Bedroom

The Newly wedded couple

The Elderly people

and

The Guest Bedroom

Vaastu Shastra in its sixteen bedroom provision, marks out areas best suited for bedrooms of each age group.

The master in the South, the young in the North, etc.

Moon and Sun Regions
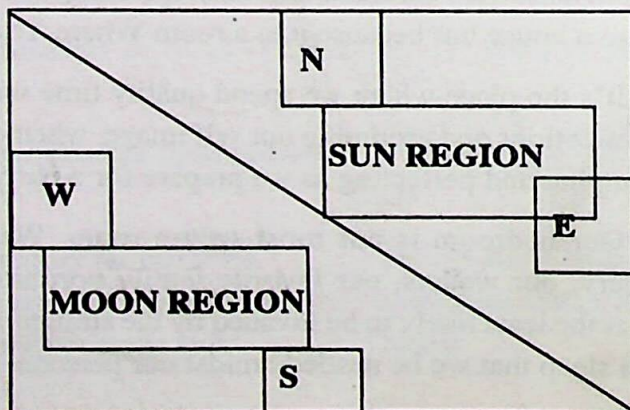
Draw a diagonal line to connect the north-western and the south-eastern of your plot.

The north-eastern triangle so formed is known as the Sun region, while the other one in the south-west is known as the Moon region. Construction in the Sun region should be light while in the Moon region could have more weight.

Thickness of the walls also should be less in the Sun region than those in the Moon region. The sun is rather mild in the morning, so the thin walls in the north and the east will allow the house to harness its goodness fully. But as the day progresses, the sun intensifies. From noon till evening, the sun is most intense. So the thick walls in the south and the west protect the inmates from the harmful effects of the intense sun all throughout afternoon session.

A bed room must preferably be built in the Moon region of the plot. South-west is therefore, the most favourable direction to have a bedroom for the owner of the house, if he wishes to have stability in his life. Besides south-west, extreme west and extreme south are also favourable to have bedroom. In these directions attached toilet/bathroom can also be built between the two bedrooms.

Master Bedroom

Vaastu shastra says:

***Shayanam Dakshinaayantu* |**

meaning that the bedroom should be in the South. Assuming that this is the Master Bedroom as no other bedroom is mentioned.

According to the Vaastu Pad viniyas this position in S is occupied by Yam - the God of death. Yam signifies death or in milder terms sleep, laziness. Metaphorically speaking the master of the house shoudl have un undisturbed and peaceful sleep (akin to death) in order to be able to face the next day fresh and with vitality.

According to Jyotish and as seen in chapter 1 the south direction is ruled by Mangal (Mars). This planet is given the post of Chief of Army or Senapati. The prime task of the Senapati is to provide security for the kingdom and for this he may have to take some firm and harsh decisions also. The same powers are instilled in

the Master of the house when he occupies this position in the South, as like Mars, the master of the house also has to provide for his family all the basics and ensuring safety for them. For this task he has to take decisions with ffirmness and sometimes harshness also.

Looking at this scientifically, as the moon region, the 'south wester part ofthe house, is unfit for use during the day because of the harsh sun. To make use of this area, the bedroom was assigned in this direction with has to be used only from late evenings to early morning. Alternately the Master bedroom may also be located in the South west of the house.

The Shasta says that the door of the room should never open towards the South. It should either open towards the North or the East directions.

The kwindows should ideally be located in the North or the east walls - but if they are onl the south or the west walls care should be taken that the windows n the east & North walls are more & larger in size than the ones onthe S & W Walls.

Furniture Layout

* The bed should be placed in such a way that while sleeping the head lies inthe south or the east. Never should the head be towards the North as this causes a reverse blood flow in the body due to the earths' magnetic field.

* In the south west of the room some heavy funiture like the wardrobe, the bed or a sofa must be placed. Under no circumstance should this area be left vacant or unoccupied.

* The North east conversely should be kept clean and bereft of the furniture.

* A small sitting in the east or the north may be accommodated. This is special retreat, where the master or the mistress relax with a good book or the most intimate of family gatherings may take place.

* If need be a small writing table may also be placed along the north or east wall.

* The Mirror is advised to be put on the North or the east Walls - so logically the dressing table should also go along these walls. If possible this might be kept in the southeast of the room as this area is ruled by Shukra which

is the lord of beauty.

However it must be remembered that the bed & the mirror do not face each other.

* The electric appliances and gadgets like the heat convector or a room fridge or the should find a place int he south east of the room

* The television, a gift of our technological innovations, must not be kept in a bedroom. It emits sound & light vibrations which stay on in the room long after the TV is shut down, pollute the peaceful ambience of the room which in turn is not conducive to good sleep.

* The air conditioners or room coolers should be placed on the North-West or the West.

* The locker or safe or treasury may be placed in the wardrobe in such a manner so that it opens towards the North or East.

* Vastu shastra strongly advises against the placement of a mandir in a bedroom. If at all, a picture of the favoured or clan god may be placed on the East or North wall.

Decoration

* The room may be adorned with artifacts depicting scenes from nature which bring tranquility, sooth a tired soul and refreshes it. These artifacts could range from landscapes, flowers & showers, doves &deer, etc. In no case should the depiction involve bloodshed, war deceit, cheating etc.

* The Colour scheme recommended for the master bedroom are toned down shades of red (this being the colour of Mangal & direction south) Sonce red is a colour of passion it should not be used in the bedroom as it invokes strong emotions - however earth colours, pinks or peaches which belong the to the red family may be used here. Pastel shades of Blue are also recommended as Blue colour is known to induce sleep.

* Although Vaastu Shastra recommends separate bathroom in the east and toilet in the south, today's lifestyles, space constraint, advanced sanitary & plumbing have made it necessary and possible to have a combined bath

& toilet and that too attached to the bedroom. In a situation where a bathroom is attached to the bedroom it should be placed in the North or the west of the bedroom.

Bedroom for the Newly-Weds

***Kamopbhogsadanam vaayukaubermadhyata* |**

As per Vaastu Mandal allocation there is a special room assigned for thenewly wed couple in between north-west and the north. It was called Rati-Grih. The purpose of this particular allocation must have been

i) the position of the abode Bhallat who is a representative, of Moon which is the epitome of romance.

ii) Looking at this from a purely social perspective, this room is across the Brahmsthala from the Master bedroom- probably to maintain the decorum and privacy for the both the elders and the young couple.

Furniture Layout

The bedroom furniture Layout remains more or less the same as that of the Master bedroom i.e.

* The headboard of the bed should be placed in the South or the East.
* Heavy furniture like the wardrobe in the South-west.
* Television in the bedroom is highly avoidable - although a music system or heat convector any electical appliances may be placed in the South east of the room.
* Air conditioners & coolers may be placed in the North West sector of the room.

Decoration

* The bedroom for the newly wed couples should be decorated tastefully to achieve a romantic ambience.

* Since this area is ruled by the Moon, vaastu advises use of white colour. Hence a colour scheme of pastel pinks and peaches would be ideal, as this infuses an element of passion, pink & peaches belonging to the red family.

* The room may be decorated with artifacts & wall hangings depicting nymphs, angels & harps or other such romantic representations. Depiction of nature may also be used which are pleasing to the senses. Any artifact or picture which might hint at war, separation, starvation, lust, poverty or any such negative emotions are a strict taboo in the bedroom or any where else in the house.

* Fresh flowers may be arranged aesthetically in a vase for added beauty and freshness. The flowers may be roses, rajnigandhas, mogras or any sweet smelling pleasant coloured ones.

* The attached bathroom cum toilet may be located on the west side of the room.

* According to Vaastu storage of grains or other eatables in the bedroom is a strict taboo. The Anna devtaa cannot coexist with the Kaama devtaa in the same room.

Children's Bedroom

Unlike an adult bedroom, the focal activity of the children's room is not sleep. As well as being a bedroom, this room needs to provide for the requirement of playing and studying also.

Our ancient shastra has not specified any thing in particular about rooms for children. It, however prescribes different areas for each of the activities in different directions of the house. This was done as there was enough space to allocate one room for one activity and all in different directions. Today, however things have changed - lack of space and specially change in lifestyles decrees one room for children, where all their indoor activities may be provided for.

* The North-west of the house is presided by Vayu or the wind god, who is characterized by restlessness, constant movement and perpetual change. Children similarly are restless by nature and require constant change due

to their short attention span. Hence, the bedroom for children should ideally be located in the North West sector of the house. This position encourages children to be active and full of energy.

* For older children a room in between north & north-east or east and north-east areas may be assigned. This is the region occupied by lord Shiv himself who represents knowledge and ruled by planet Guru which again denotes Gyan or knowledge. The location of the room will be helpful for children pursuing studies as this would encourage concentration and receptiveness.

* There should be lots of windows opening towards the east & north sides as this bring all the goodness of the morning sun in the room which is invaluable for growing children.

Furniture Layout

Taking cues from Vaastu shastra we may place furniture in the room activity wise. i.e.

* Study table in between south west and west - where Dauwarik & sugriva are placed as per vaastu padviniyas. Dauwarik means gate keeper and the qualities it entails to be one are primarily alertness and sharpness which are also requirements to be a good student. Sugriva means one who has a good griva or voice - earlier times education being more oral than written it was important that the student be able to recite his learning perfectly. is it possible to change Sugrive's pingla request writy.

* The student while studying should face the east the direction of the rising sun.

* The study table should not face a wall - if due to space constraint, it may be placed against a window.

* A fairly new concept in funiture design due to space constrant is an overhead cabinet above the study table. This should be avoided as far as possible giving an open area for the student.

* The storage of books & clothes & toys & games may be made in the South or the South west.

* The bed may be placed inthe South with the head board in the south or the east.

* The play area in the room may be assigned in the North West corner.

* Computers & music systems etc may be kept near the North east corner.

Decoration

* The colour schemes of the children's room may be varied shades & tints of green or a yellow with a white or even a combination or yellow & green. Green colour is the colour of Mercury or Buddh or Buddhi and Yellow of Guru or Gyan.

* This colour scheme may be carried on from walls & flooring to carpets, rugs, furniture, curtains, bedcovers & cushions. The room should took fresh and lively though at the same time should not create restlessness and harshness. It is very important to strike the right balance to create the perfect mood in this room, as children have to spend most of their time in this room doing various activities and should be comfortable while doing so.

* The pictures on the walls should be pleasant natural sceneries or portraits of inspirig figures. Artifacts should be kept to a minimum as children need lots of space to move around and nothing should create hindrance in this movement.

Bedroom for the Elderly

It is considered a blessing if there are elders in the house. In case there are parents of themaster of the house, they should be given a bedroom in the East or the north towards the North east. This will keep them close to God and also healthy which in turn will create a very positive atmosphere in the house with their wisdom and sound advices.

* The room should have lots of windows towards the North and the East.

Furniture Layout

* The funiture placement should be same as prescribed for other bedrooms. The bed in the south, wardrobes in the south west, sitting in the north or east.

* Care should be taken with the furniture design. The furniture should be age friendly i.e. neither high nor low, sturdy & comfortable. There should not be too much of furniture in the room as this would hamper free movement and might cause minor accidents by bumping into them.

Decoration

* The colour scheme of the room may be taken from Guru that is yellow or creams or off whites.
* The decoration of the room may be done by adorning pictures on walls and placing artifacts with spiritual and virtuous intonations.

Guest Bedroom

Atithi devo Bhava !

So goes a very famous vedic preaching. A guest is like a god so treat him like one. Give him the same respect and love that you would give to a god who comes to your house. Serve him the best of food and give him the most comfortable bed. There are innumerable tales in our literature which illustrates this preaching.

However, along with this it also elucidates to the guest not to overstay his welcome as this will cause discomfort to the host, thereby making the guest a burden on the host and earn his disrespect.

* Keeping these towo facts in mind a room in the North West region of the house may be made into a guest house. The constant movement of the NW will not let the guest stay for more than a necessary period of time. Keeping every body happy.

Furniture Layout

* The Furniture layout of the room should be basic with the bed in the south & head board facing the south, a small comfortable sitting in the north or North West, a small wardrobe in the south.

Decoration

* The colours of this room should be whites & pastels.

* The decor of the room should be simple and comfortable not loud and ostentatious to impress the guest.

Some General Rules

* Bedrooms for patients and pregnant or nursing women may be assigned in the East towards the NE. The healing powers of the morning sun will do wonders to their health and lead them to a speedy recovery.
* Bedrooms forthe Newly married couples should not be placed in the South east as the fire and magnetic concentration in this area may cause friction among them.
* Bedrooms for young girls of marriageable age should be given a room in the NOrth West of the house. The winds of change bring about a good and early match for them.
* An additional room in the south or south west of the house in a two or more storied building may be given to the elders or the eldest son of the family. But never to the girst, younger sons or children.
* A bed or a sitting under a beam should be avoided if possible as in the case of earthquakaes or any such calamities the damage would be less than otherwise.

Building Materials and Quality

Religion is, in a way, the soul of Indian culture. In every walk of life, conduct with a clear inclination for religion is given importance. Building a house is no exception as Vishvakarma Prakash says:

Anyatra Skhalitshila Vishirna Machchhin Sanskarat ||

that is, building materials that are strewn here and there should not be used for house building purposes. Also no material should go into the house building without the consent of the owner or it will prove inauspicious.

Wood:

There is a wide and comprehensive description in VAASTU Shaastra regarding the quality of wood.

Varahamihir in Brihat Sanhita says, that although this shastra is meant for the benefit of all mankind and for all times, here he addresses in particular the specifications for the wood to be used to make bed and a throne for a king.

The wood from trees such as Vijaysaar, Spandan, Haridra, Devdaru, Tinduki, Shaal, Kashmiri, Anjan, Shaak, Shishpa, etc. are good for making the furniture for the kings.

The Shaastra specifies the trees, the wood from which should not be used for making the bed and the throne.

Any tree which

* Is the abode of gods
* Is the home for living beings such as birds, insects, animals or creepers.
* Is used for its shade on the roadside, in the *chaupal*,
* Grows on the river bank, or the temple compound or the cremation grounds.
* Has been felled by lightening, water, strong wind or elephants
* Has dried of its own course

If Furniture from such trees is made, it is said, it will give very inauspicious results like destruction of entire clan, illness, fear, loss of wealth etc.

The length of the bed for the king should be hundred *karmandguls*. For the Rajptra it should be 90 angguls, for the chief minister it should be 84 angguls, for the senapati or chief of army, it should be 78 angguls, and for the purohit or chief priest it should be 72 angguls.

The results of using auspicious woods are also given in these texts, e.g.:

*	Shreeparni & Tinduki	Wealth
*	Vijaysaar	heals from sickness
*	Shinshpa	progress
*	Chandan	destroys enemies, fame and ling life
*	Padmak	long life, shubh labh
*	Shaal	overall good

It says that if a king sleeps on a bed made of chandan with embellishments of gold and precious stones, he is worthy of being worshipped by the Gods.

The treatise also speaks of a bed made of combination of woods. It says that bed made of

*	One kind of wood	gives	wealth
*	Two kinds of wood	gives	good luck
*	Three kinds of wood	gives	advancement of the dynasty
*	Four kinds of wood	gives	loads of wealth and fame
*	Five kinds of wood	gives	death
*	Six, seven or eight	gives	destruction of dynasty

Also there are favourable and unfavourable combinations of these woods for making a bed or throne

*	Tinduki and Shinshpa + any other wd		inauspicious
*	Shreeparni + Devdaru or Asan		inauspicious
*	Shaal and shaak	together or separately	auspicious
*	Haridra and kadamba	together or separately	auspicious
*	All fruiting trees		auspicious

Old and new wood should not be used in combination. Similarly, hard and soft woods should not be mixed also.

These details here are as relevant today and they must have been in those days if we were to understand their essence and adapt it to suit today's needs and techniques.

Woods of Deodaar, Shisham (Indian rosewood), Sal, teak, jackfruit etc. are most suitable forthe building purposes. Here again, one should not make any compromise regarding the quality of wood.

Vaastu shastra teaches us to live in harmony with nature, and for that we have to preserve our wild life and forests reserves not cut up our trees to make furniture and houses.

Now-a-days composite wood are the best substitute for natural wood. Quality wise also, composite wood are much superior to natural wood. Hence use of composite wood is the best solution for construction purposes.

Planetary Colours

Colors have profound effects on both the body and the mind. This face was recognized centuries back by the ancient Indians. In one of the ancient texts called the Karma Purana the importance of the colours has been beautifully illustrated.

Astrological texts like Brihat Jataka, Jataka Parijata and othera have assigned certain colours and directions to the planets as follows:

Sl	Planet	Colour	Direction
1.	Sun	Copper Red	East
2.	Moon	White	North-East
3.	Mars	Blood Red	South
4.	Mercury	Green	South
5.	Jupiter	Yellow/Golden	North East
6.	Venus	Mixed/White	South East
7.	Saturn	Black/Blue	West

A blue (representing Shani) colour is highly recommended for master bedroom as it brings in laziness and relaxation which are ideal for restful sleep.

Different shades and hues of these colours can be used for the interiors and exteriors on the basis of the Janma Rasis or Moon-signs of the house owners or the room occupant for a particular room.

Colours can also be used based on directions. For instance the North West rooms can be white or pastels, North rooms can be light green, west rooms may be grey, South-east rooms can have varied colour scheme, North-east rooms can be shades & tints of yellow like cream or off white, the south may have hues of reds.

Colours can be applied in a house in a number of ways. We can paint the walls

of our house in different colours in different areas guided by the shastra taking into consideration the janma rashis or the governing directional lord. The colours of furnishings like the upholstery of sofas & chairs, curtains & drapes, carpets & rugs, bedcovers & cushion covers, etc. can also define the colour scheme of the room.

Also as per Vastu, the direction lord & the activity lord should be governing factor while choosing a colour scheme of the particular room. For example for study room placed in the West may be given a predominantly with shades (colour mixed with black to darken) green and yellow (Mercury - Budh & Jupiter - Guru resp.)

Some Case Studies

As part of this dissertation I have visited a few houses and studied them from purely vastu's point of view and in particular the Bedrooms

Here I am presenting these cases with my interpretation. I do not claim to be an authority on the subject but have applied my knowledge of vastu shastra to these cases with utmost honesty.

CASE I
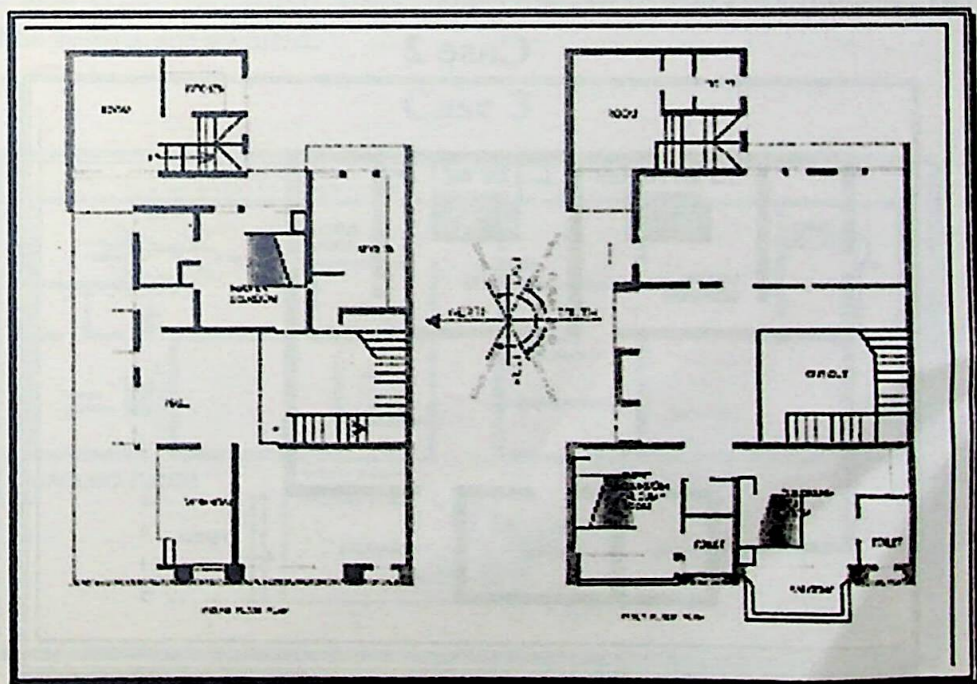
This house is West facing, with the bedrooms lined along the West side. There is one bedroom on the Ground floor along the East side near the kitchen. This is the bedroom that was being occupied by the Master of the house. And the west side rooms on the First Floor were being occupied by the children. The son who was in the left side room has gone to a boarding house to study. Of the two daughters the elder one has also gone to a hostel for further studies. The younger daughter stays on in the room on the Right side.

Although the family seems to prospering and well settled, the house in itself gave a very forlorn look when the site was visited. The Mistress of the house was lost in her own world, the house cluttered and disarranged in spite of having exquisite and expensive artifacts strewn all around the house.

The problem, although they were loath to admit lay in the communication of the husband and wife. The husband is arrogant and impatient and is in awe of himself, whereas the wife seems least interested in anything and just goes about her chores and her husband's wishes without any enthusiasm for anything.

This could be, apart from other factors, because of the Bedroom they occupy in the East near the North East, due to which the husband considers himself the God and has caused the drift between the couple.

Case 2
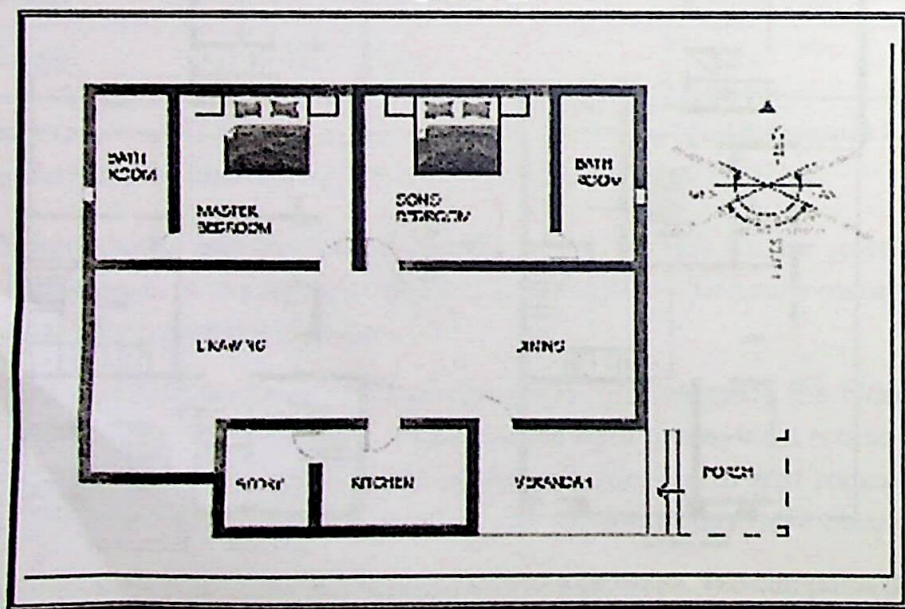
The couple has been advised to shift to the bedroom on the First Floor which lies on the South West Corner and the adjoining room allocated to his daughters. The room on the ground floor has been assigned to the son. The results are awaited.

The above house has a small family close knit and very loving husband wife and their thirty five years old son. They have been living in this house for the past fifteen years.

The problem lies in the son's married life. He has been married thrice and the first two wives hae left him causeing a lot of bitterness. They did not have any children. Now the third wife a divorcee herself has come with a five years old daughter from her previous marriage.

This could be, apart form various other reasons, the Bedroom which he occupies on the North East block of the house. This could be a very strong factor for his marital discord as he looks like an ascetic, least interested in the material world. He probably has the same attitude when it comes to conjugal bliss and has failed to satisfy and keep his wives and also sire a child.

The family has been advised to swap the two bedrooms with each other, as the Northwest bedroom might bring in the missing attitude towards marriage for the son and also bring the retired master and mistress couple close to god and well being. The results are awaited.

Case 3

GROUND FLOOR

FIRST FLOOR
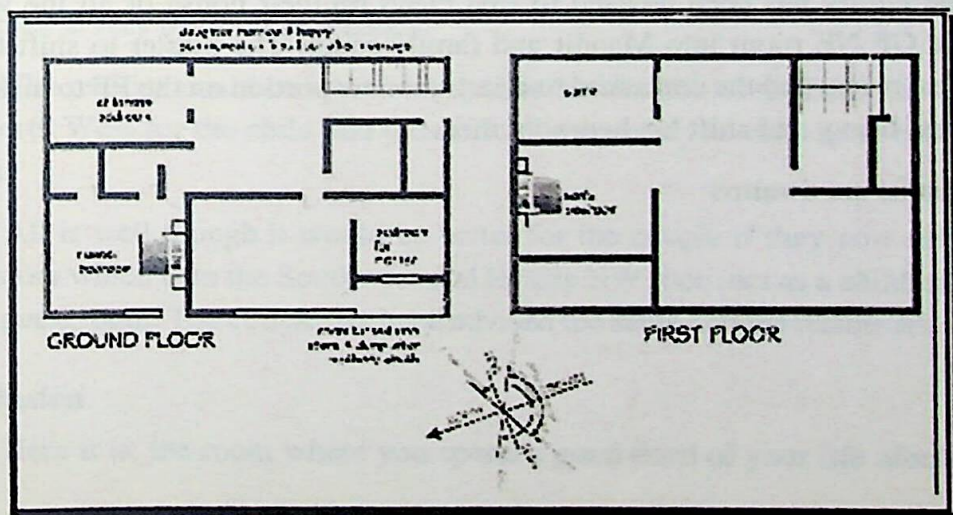
This is a classic case study, where things for this family have gone from good to excellent to good and finally bad - all in a period of around fifteen years ever since they made this house for them and have started residing in it.

The husband and the wife were happy in their Northwest room with children in the North East and mother in the south west room. The family prospered financially, the children studied well and mother was in control.

Then the daughter got married into a very cultured family to a very understanding husband and is very happy after ten years of marriage. The son started his business and was doing very well.

Then things started changing. The mother passed away and the son was married and shifted to a newly constructed portion in the north of the house onthe first floor. The ground floor room on the NE was turned into a dump room and worst still another room n top of it was used for dumping left over construction material from their business the room in the south west is also lying waste and used as a dump room.

Although the newly married couple was soon blessed with two beautiful children soon, the business started to suffer and family squabbles between the two women started. Finally the son closed down his business, joined his father but things have gone bad for them even more. The master and mistress of the house are suffering monetarily as well as health wise too.

The family has been advised to first clean up their house of all the waste. Make the GF NE room into Mandir and family room. The master to shift to the South west room, and the son asked to construct new portion on the FF to make the South west heavy and shift his bedroom there.

Results are awaited

Case 4
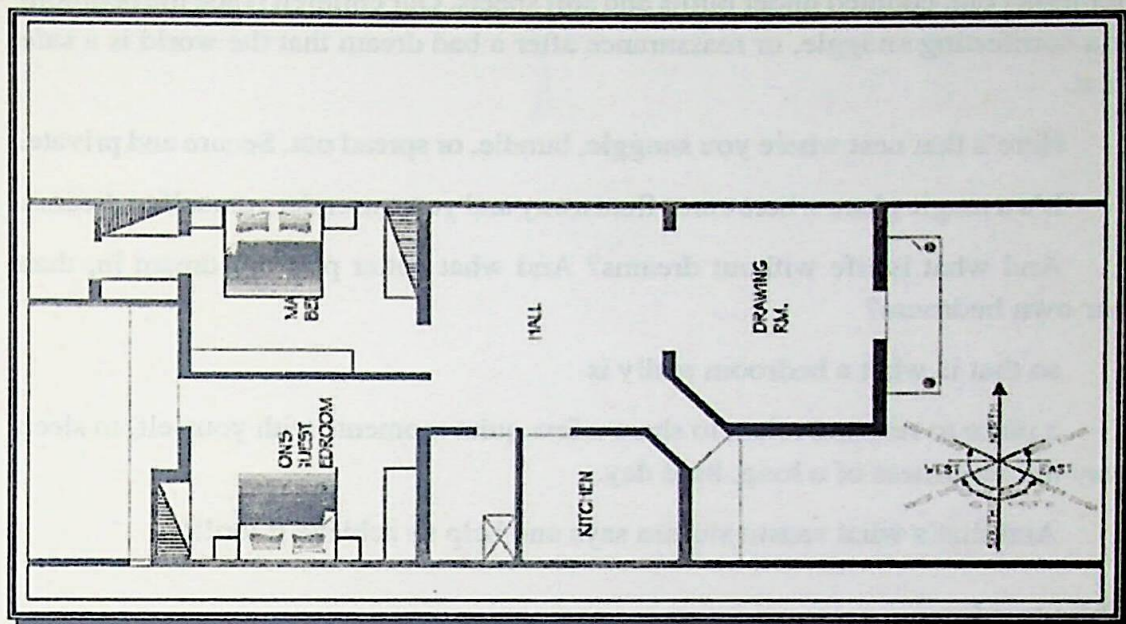
The house in reference has been constructed recently and habited only three years ago.

The family - husband, wife and a six years old son, when moved into this house were already doing well financially and had a normal married life. Soon after they moved in to this house the wife conceived and was blessed with a daughter but only after a very difficult pregnancy.

The reasons could be attributed to first the location of the bedroom that is in the North West for the child and the difficult pregnancy to their head board in the North.

All is well though it would be better for the couple if they now shift to the next room which is in the Southwest and let this NW room act as a children's room and a guest room. The couple has been advised the same and the results are awaited.

Conclusion

Here it is, the room where you spend a good third of your life albeit asleep.

This room is at thevery heart of our love lives where our last endearments are shared after lights out, cuddled under quilts and soft sheets. Our children ivade the bedroom for a comforting snuggle, or reassurance after a bad dream that the world is a safe place.

Here's that nest where you snuggle, bundle, or spread out. Secure and private.

It's a magic place where cares float away and you surrender yourself to dreams.

And what is life without dreams? And what better place to dream in, than your own bedroom?

so that is what a bedroom really is-

a place to rest and relax, to share a few quiet moments with yourself, to sleep away the weariness of a long, hard day.

And that's what vaastu shastra says and help us achieve it too!!!

Bibliography

1. Bhartiya Vastu Shastra by Prof. Shukdev Chaturvedi
2. Vastusaar by Dr. Deviprasad Tripathi
3. Bhartiya Vastu Vidya by Dr. Bihari Lal Sharma
4. Varahmihir Rachit Brihat Samhita by Pt.Achutanand Jha Sharma
5. Vastu Relevance to Modern Times by B. Niranjan Babu
6. Various Websites on Vastu Shastra.